हिन्दी त्रैमासिक

विवेक ज्योति

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई – अगस्त – सितम्बर

★ १९७० ★

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक
स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक ● स्वामी प्रणवानन्द

सह-सम्पादक ● सन्तोष कुमार झा

वार्षिक ४) वर्ष ८ अंक ३ एक प्रति १)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द

(रुग्णावस्था में, शिलांग में, १९०१)

विवेक मुद्रणालय, महाल, नागपुर २.

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(१० वीं तालिका)

४६६. श्री आर. आर. मोटवानी, भिलाईनगर ।
४६७-७०. श्री अम्बूभाई सेठ, गोंदिया ।
४७१. श्री लक्ष्मणराव गोविन्दराव जानी, ब्रह्मपुरी (चाँदा) ।
४७२. श्री भीखूभाई, सूर्यभवन, जूना बिलासपुर ।
४७३. श्री शिवप्रताप अमरनाथ साव, जूना बिलासपुर ।
४७४. श्री रतनलाल अग्रवाल, धरमपेठ एक्स्टेंशन, नागपुर ।
४७५. मेसर्स लोया बागडी एंड कं., गाँधीबाग, नागपुर ।
४७६. श्री ओंकारनाथ चांडक, रामदासपेठ, नागपुर ।
४७७. श्री एल. एन. मलानी, धरमपेठ एक्स्टेंशन, नागपुर ।
४७८. श्री जमनादास उदेशी, इतवारी, नागपूर ।
४७९. श्री राधावल्लभ हेडा, अमरावती (महाराष्ट्र) ।
४८०. श्री रामविलास मंधडा, ऊदखेड (अमरावती) ।
४८१. श्री श्रीनिवास लड्ढा, अमरावती कैम्प ।
४८२. श्री राधाकृष्ण राठी, कालेज रोड, अमरावती ।
४८३. श्री रामद्वारिका अग्रवाल, पुरानी बस्ती, रायपुर ।
४८४. प्राचार्य शासकीय बुनियादी प्रशिक्षण संस्था, नगरी ।
४८५. श्री विदेशकुमार सिन्हा, पुरूर, शान्तिपुर (रायपुर) ।

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ८] जुलाई – अगस्त – सितम्बर [अंक ३

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७० ★ एक प्रति का १)

जो कुछ है सो तू ही है

नील: पतंगो हरितो लोहिताक्ष:
तडिद्‌गर्भ ऋतव: समुद्रा:।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे
यतो जातानि भुवनानि विश्वा ।।

—तू नीले रंग का भौंरा है, हरे रंग का पक्षी है जिसकी आँखें लाल हैं। तू ही काले कजरारे मेघ है जिस पर बिजली चाँदी की रेखा-सी खींच देती है। तू ही ऋतुएँ और समुद्र है। तू अनादि है और सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित है। तुझी से सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुए हैं।

—श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४।४

सिद्धी की कीमत?

किसी गाँव में एक ब्राह्मण-परिवार रहता था। बड़ा भाई पुरोहिती के द्वारा अर्थोपार्जन करता और किसी प्रकार घर-गृहस्थी का खर्च चलाता था। पर था वह बड़ा सन्तोषी और ईश्वर के चरणों में उसका बड़ा अनुराग था। उसने छोटे भाई को विद्या पढ़ने के लिए बाहर भेजने का विचार किया। ऐसा सोचकर उसने छोटे भाई को बुलाया और उससे कहा, "देखो भाई, तुम तो जानते हो कि कितने कष्ट से घर-संसार चल रहा है। मैं चाहता हूँ कि तुम बाहर जाकर विद्या सीख आओ जिससे तुम भी आगे चलकर कुछ उपार्जन कर सको। पर देखो, भगवान् में मति सदा बनी रहे। उन्हें मत भूल जाना।"

छोटा भाई विद्या सीखने बाहर चला गया। उसने चौदह वर्ष तक बाहर रहकर विद्या सीखी और जब वह अपने घर वापस लौटा तो बड़े भाई और घर-गाँव के लोगों ने उसका स्नेहपूर्वक स्वागत किया। बड़े भाई ने उससे पूछा, "अच्छा भाई, यह तो बताओ कि तुमने इतनी दीर्घ अवधि में कौनसी विद्या सीखी है?" छोटे भाई ने उत्तर देते हुए कहा, "भैया, जरा आसपास के गाँववालों को भी बुलवा लें। मैं सबके सामने अपनी सीखी विद्या का प्रदर्शन करूँगा।"

तो, छोटे भाई की विद्या के प्रदर्शन के लिए एक

दिन निश्चित कर लिया गया और आसपास के गाँवों में सूचना भेज दी गयी। लोग बड़ी संख्या में नियत समय पर उस गाँव में आकर इकट्ठा होने लगे। प्रदर्शन का स्थान पास की नदी के तीर को चुना गया था। नदी बड़ी थी और उसका प्रवाह खर था। लोग तैरकर उसे पार करने में डरा करते। नाव ही इस पार से उस पार आने-जाने का साधन थी।

निश्चित समय पर छोटा भाई आया और उसने अपनी विद्या के प्रदर्शन की घोषणा की। उसने कुछ मंत्र इत्यादि पढ़े और लोगों के देखते ही देखते वह नदी के जल पर चलते हुए उस पार चला गया, फिर उसी प्रकार उधर से जल पर पैदल चलते हुए नदी को पार कर इस पार आ गया। सभी दर्शक विस्मय-विमुग्ध नेत्रों से इस अद्भुत दृश्य को देखते रहे। विद्या के सफल प्रदर्शन के उपरान्त लोगों ने तालियों की गड़-गड़ाहट से छोटे भाई का स्वागत किया और उसके जय-जयकार से आकाश को गुँजा दिया। किन्तु जब छोटा भाई अपने बड़े भाई के पास पहुँचा और जाकर उसने भैया के चरण छुए, तो बड़ा भाई कुछ देर मौन ही खड़ा रहा। उसका गम्भीर मुखड़ा देख सभी लोग चकित हो गये। छोटा भाई भी कुछ समझ न सका और बड़े भाई के व्यवहार पर उसे मन ही मन अचरज होने लगा। कुछ क्षण उपरान्त बड़े भाई ने मौन तोड़ते हुए कहा, "चौदह वर्ष की दीर्घ अवधि में

बस क्या इतनी ही विद्या सीखी है ? अरे भाई, नदी को पार करने में कौन सी बड़ी बात हो गयी। हम लोग तो दो पैसा देकर नाव में नदी पार कर जाते हैं। इस हिसाब से तो तुम्हारी चौदह वर्ष की गाढ़ी कमायी की कीमत सिर्फ दो पैसे ही हुई !" सुनकर छोटे भाई की आँखें खुल गयीं।

तात्पर्य यह है कि सिद्धियों का आध्यात्मिक जीवन में कोई विशेष मूल्य नहीं होता। जो व्यक्ति ईश्वर-लाभ के बदले सिद्धियों के पीछे दौड़ता फिरता है, उसका जीवन छोटे भाई के जीवन के समान ही व्यर्थ चला जाता है। दो पैसे कीमत वाली सिद्धि के चक्कर में पड़कर हम आध्यात्मिकता का अनमोल रत्न गँवा बैठते हैं।

●

मंत्रों की सहायता से ध्यानाभ्यास

स्वामी श्रद्धानन्द

(स्वामी श्रद्धानन्दजी रामकृष्ण मिशन के सैन फ्रांसिस्को, अमेरिका केन्द्र में कार्यरत हैं। प्रस्तुत लेख में उन्होंने मंत्रों के अर्थ और उनकी उपयोगिता पर चर्चा की है। यह लेख 'वेदान्त एन्ड दि वेस्ट' के जनवरी-फरवरी १९६३ अंक में प्रकाशित हुआ था। वहीं से यह अनूदित और साभार गृहीत है। --सं.)

मंत्र का सामान्य अर्थ 'शब्द-प्रतीक' किया जा सकता है। परन्तु उसके समूचे अर्थ को हृदयंगम करने के लिए कई दार्शनिक और रहस्यवादी तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है। प्रस्तुत निबन्ध में मैंने सामान्य दृष्टि से ही विवेचना करने का प्रयास किया है तथा जहाँ तक बन सका है, दार्शनिक सूक्ष्मताओं को दूर ही रखा है। जहाँ तक मंत्र के बाहरी रूप का प्रश्न है, वह विशेष रूप से गठा गया एक शब्द या शब्दों का समूह है। उसका उपयोग दो प्रकार के उद्देश्यों की पूर्ति के साधन के रूप में किया जाता है-- एक तो, मनुष्य के भीतर कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में असामान्य मनोदैहिक ऊर्जा का संचरण करना और दूसरे, इस ऊर्जा को अतीन्द्रिय सत्यों की अनुभूति हेतु दिशा प्रदान करना। मंत्रों का उपयोग ऐसी भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए भी किया जाता है जो दूसरे किसी उपाय से प्राप्त होने में

कठिन हैं। पर यहाँ पर हम मंत्रों के इस पक्ष की चर्चा नहीं करेंगे।

विशिष्ट प्रयोगों के लिए समुचित औजारों का आविष्कार करना विज्ञान की प्रमुख समस्याओं में से एक है। वास्तव में, विज्ञान की प्रगति बहुत-कुछ इस पर निर्भर है कि हम विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म, पटु और सुनियत यंत्रविन्यास कितना कर सकते हैं। सामान्य मनुष्य बीच बीच में अखबारों में पढ़ा करता है कि आधुनिक युग की आश्चर्यजनक उपलब्धियों के मूल में कुछ विचित्र प्रक्रियाएँ रहीं; जैसे--'हाइड्रोजन प्लाज्मा', 'मैगनेटिक बॉटल', 'बबल चैम्बर' आदि आदि। अतएव, यदि हम ऐसा सुनते हैं कि मंत्रों के द्वारा हमारे मनोदैहिक तंत्र में परिवर्तन घट सकता है और वे हमारे मन को आध्यात्मिक सत्यों के दर्शन हेतु तैयार कर सकते हैं, तो इसमें अविश्वास करने का कोई अधिक कारण उपस्थित नहीं होना चाहिए। विभिन्न प्रयोगों के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के औजारों की आवश्यकता होती है। अपने आन्तरिक जीवन की वैज्ञानिक खोज के लिए ये मंत्र ही हमारे लिए औजार बनते हैं।

थोड़ी देर के लिए हम साधारण रूप से एक शब्द की क्रिया को परखें। हम जानते हैं कि शब्द एक भाव का वाचक है, और भाव किसी ठोस वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है, जो या तो हमसे बाहर इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है अथवा हमारे ही अपने भीतर भावना की विषय है।

ये वस्तुएँ कई श्रेणियों की हो सकती हैं; जैसे--द्रव्य, गुण, क्रिया, आदि आदि। कुत्ता, पत्थर, सफेद, कड़ा, दौड़ता, और गिरता--ये बाह्य द्रव्य, गुण और क्रियाओं के उदाहरण हैं। हर्ष, विषाद, मनन--ये भीतरी क्रियाओं के नमूने हैं। इस प्रकार, सर्वप्रथम हमारे अनुभव के संसार का एक बाहरी आधार है। दूसरे, प्रत्येक अनुभव का एक मानसिक पहलू है, जिसे हमने भाव कहा। अन्त में, इस भाव को व्यक्त करने के लिये शब्द की रचना हुई। यदि घनत्व की भाषा में व्यक्त किया जाय तो भाव को अपने से सम्बन्धित अनुभव की अपेक्षा अधिक 'घना' कहा जा सकता है। और शब्द सम्बन्धित भाव की अपेक्षा 'सघनतर' होता है। उदाहरणार्थ, एक अकेला शब्द जब सोच-विचार की परिधि में आता है, तो सम्भव है अपने को व्यक्त करने के लिए दस भावों की सहायता ले; और ये दस भाव जब बाहर के अनुभव की परिधि में आते हैं, तो नितान्त सम्भव है कि वे द्रव्य, गुण और क्रिया की एक सौ इकाइयों से सम्बन्धित हों। एक राष्ट्रभक्त अमेरिकन के लिए 'लिंकन' यह नाम मन में कई भावों को जन्म देता है; जैसे--उनके शारीरिक लक्षण, उनकी चारित्रिक शक्ति, उनका राजनैतिक जीवन, उनकी उदारता, उनके विनोद, उनका त्याग। परन्तु लिंकन के जीवन की असंख्य घटनाओं को देखते हुए इन थोड़े से भावों की भला क्या गणना हो सकती है ? उस महान् जीवन की असंख्य घटनाएँ

अपेक्षाकृत थोड़ीसी संख्या वाले स्मृत्यात्मक मानसिक रूपों में जाकर संग्रहित हो गयीं, और ये मानसिक रूप या भाव, पुन:, एक शाब्दिक अभिव्यक्ति--लिकन--में जाकर घनीभूत हो गये। बस इसी प्रकार मानवी भाषा, विचार और अनुभव का अर्ध-वृत्त कार्य किया करता है। अनुभव का रूपान्तरण भावों में होता है और भाव शब्दों में जाकर घनीभूत हो जाते हैं। उल्टा कहें तो शब्दों से भावों की अभिव्यक्ति होती है और भाव अनुभवों को फैलाकर रख देते हैं।

अतएव, भावों पर ध्यान करने से एक शब्द को हम अव्यक्त अनुभवों के संचित कोष के रूप में देख सकते हैं। उसमें ऐसी शक्ति घनीभूत है जिसको कई प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है। एक माता का उदाहरण लें जो अपने प्यारे इकलौते बेटे मोहन को खो बैठी है। मोहन का शारीरिक रूप, उसके असंख्य हाव-भाव और क्रियाएँ पूरी तरह लुप्त हो चुकी हैं, परन्तु माता अपने मन में अपने प्यारे बेटे से सम्बन्धित एक भावसमूह को पोषित किये हुए है। ये भाव मिलकर मोहन की 'स्मृति' को जन्म देते हैं। पर यह आवश्यक नहीं है कि माता सदैव उस स्मृति को स्पष्ट बनाये रखे। उसे और घनीभूत किया जा सकता है। परिणामस्वरूप, हमें भावों का सार, यह शब्द, यह 'मोहन' नाम प्राप्त होता है। दुखिया माता के लिए उसका बच्चा निश्चित और स्पष्ट रूप से उस नाम में जीवित रहता

है। यह 'मोहन' शब्द उसके लिए सबसे मूल्यवान सम्पत्ति है; उस नाम के माध्यम से वह एक प्रकार से अपने बेटे की उपस्थिति का अनुभव कर सकती है। जब मन शान्त और स्थिर होता है तो वह नाम मोहन की अतीत स्मृतियों को उठा देता है। ये स्मृतियाँ गहरी भावनात्मक अनुभूति का दरवाजा खोल देती हैं और इस अनुभूति में मोहन माता के हृदय में पुनः जीवित हो जाता है।

यह हर समय सम्भव नहीं होता कि कोई एक भाव किसी विशेष अनुभूति के समस्त टुकड़ों को इकट्ठा कर ले। कई टुकड़े मानसिक रूप की पकड़ से निकल भी जाते हैं। फिर, अनुभव के ऐसे भी कुछ पहलू हो सकते हैं जो मन की किसी भी रचना के द्वारा लिपिबद्ध नहीं हो पाते। शब्द भी कभी कभी इसी सीमितता के शिकार हो जाते हैं। हो सकता है कि कोई शब्द पूरी तरह किसी भावसमह का अर्थ स्पष्ट न कर सके। और कुछ भाव तो ऐसे होते हैं जिन्हें शब्दों के माध्यम से किसी तरह व्यक्त किया ही नहीं जा सकता। भावों और शब्दों की इस सीमितता को स्मरण में रखना आवश्यक है।

प्रस्तुत लेख में हम एक आध्यात्मिक सत्ता के अस्तित्व के विषय में शंका उपस्थित नहीं करेंगे। हम यह मान लेंगे कि जैसे हम इन्द्रियग्राह्य भौतिक व्यापारों और मूल्यों से भरे इस संसार का सामना और अनुभव करते हैं, उसी प्रकार अतीन्द्रिय घटनाओं और मूल्यों से भरे

एक आध्यात्मिक जगत् से सम्पर्क स्थापित करना सम्भव है। इस आध्यात्मिक यानी अतीन्द्रिय जगत् में भी शब्द, भाव और अनुभूति में परस्पर का वही सम्बन्ध है। जब हमारी इन्द्रियाँ और मन पवित्र हो जाते हैं तब हमारे भीतर आध्यात्मिक अनुभूतियाँ जगा करती हैं। ये अनुभूतियाँ आध्यात्मिक भावों या सूक्ष्म मानसिक आकारों को जन्म देती हैं। ये भाव भौतिक जीवन में उठनेवाले भावों से नितान्त भिन्न होते हैं और उनका आकलन तब होता है जब मन शान्त होता है तथा कुछ सूक्ष्मतर स्तर तक उठ जाता है। इन आध्यात्मिक भावों के अनुरूप शब्द होते हैं जो अपने भीतर उनके सार और उनकी सम्भावनाओं को संचित करके रखते हैं। इन्हीं को मंत्र या शब्द-प्रतीक के नाम से जाना जाता है। मंत्र एक शब्द या शब्दों का एक समूह होता है। ये शब्द हमारी ज्ञात लिपि के अक्षरों से बने होते हैं; बस यहीं तक हम मंत्रों को समझ सकते हैं। परन्तु इसके अलावा हम जिन शब्दों का उपयोग साधारणतया किया करते हैं उनके साथ मंत्रों का कोई सम्बन्ध नहीं हुआ करता। व्याकरण के नियमों को लागू कर मंत्र के अर्थ को नहीं समझा जा सकता। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि मंत्र उन भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनका भौतिक अनभवों से कोई सम्बन्ध नहीं। वे तो वस्तुतः ऐसी ध्वनि-रचना के प्रतीक हैं जो विशुद्ध आध्यात्मिक भाव-राज्य की ओर इंगित करती है। भारत

में ऐसा विश्वास है कि मंत्र मनुष्य-निर्मित नहीं हैं। वे युग-युग में ऋषियों के शुद्ध अन्तःकरण में प्रकाशित हुए हैं और अधिकारी शिष्यों को परम्परा से प्राप्त होते रहे हैं। हम नये शब्दों का सृजन कर सकते हैं, पर इन मंत्रों का सृजन नहीं कर सकते जो अतीन्द्रिय भावों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हम अक्षरों को लेकर चाहे जितनी तरह से जोड़-तोड़कर शब्द बना लें, पर उससे आध्यात्मिक आलोक का प्रभावी साधन यह मंत्र नहीं बनाया जा सकता। कह सकते हैं कि समस्त मंत्रों को ऋषियों ने 'उपलब्ध' किया है। उनमें अगाध शक्ति भरी होती है और भारत की आध्यात्मिक परम्परा के अनुसार उनके विन्यास को कोई बदलने का साहस नहीं कर सकता।

मंत्र एक शब्द का भी हो सकता है, दो शब्दों का भी, फिर तीन या अधिक शब्दों का भी। समूचे मंत्र का कोई भाग ऐसा हो सकता है जिसका भले कुछ अर्थ लगाया जा सके; जैसे——'नमः', 'स्मरामि' या 'भजामि', आदि आदि। परन्तु वह भाग मंत्र का अनिवार्य अंग नहीं होता। मंत्र का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग हमारी अल्प बुद्धि की पकड़ में नहीं आता। किन्तु जब मन साधनाओं के अभ्यास द्वारा शुद्ध होकर सूक्ष्मतर भूमि पर आरूढ़ होता है, तब मंत्र हमारे ज्ञान-चक्षुओं को खोल देता है।

विश्व के कई धर्मों में हम शब्दों या वाक्यों के सहारे आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने की बात न्यूनाधिक रूप

से पाते हैं, पर हिन्दू धर्म में इसकी अपनी एक विशिष्टता है। हिन्दू धर्म बहुविध धार्मिक विश्वासों और विभिन्न साधना-प्रणालियों का सामूहिक नाम है। इनमें से अधिकांश का मूल स्रोत वेदों में है। अतः विभिन्न सम्प्रदायों के आदर्शों और साधन-पद्धतियों में भले ही चौड़ी खाई मालूम पड़ती हो, तथापि कुछ आधारभूत सिद्धान्त ऐसे हैं जो सभी में समान हैं। इनमें से एक है-- मंत्र का तंत्र। यह एक सार्वभौम निर्विवाद धारणा है कि ईश्वर की उपासना और ध्यान में विशिष्ट मंत्रों के प्रयोग से आध्यात्मिक साधना को विशेष गति प्राप्त होती है। अतः भारत में मंत्रों के सहारे ध्यान करना कोई तर्क या विवाद का विषय नहीं है। उसे बस स्वीकार कर लिया गया है। साधक जब योग्य गुरु से दीक्षा प्राप्त कर मंत्र के अभ्यास को सीखता है तो यह आशा की जाती है कि उसे उस मंत्र पर अटल विश्वास है। शास्त्र और गुरु साधकों के मन पर यह बात अंकित कर देने की चेष्टा करते हैं कि मंत्र शब्दों की कोई असम्बद्ध रचनाएँ नहीं हैं, बल्कि वे ईश्वर-साक्षात्कारी पुरुषों द्वारा गुरु-परम्परा से शिष्यों को प्राप्त होते रहे हैं तथा युग-युग में अनेकों नर-नारियों द्वारा परीक्षित और पुष्ट होते रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि जिस व्यक्ति को विश्वास की पृष्ठभूमि प्राप्त नहीं है, उसके लिए निष्ठापूर्वक मंत्र के अभ्यास में लगना नितान्त कठिन है।

हिन्दू धर्म का पश्चिमी विद्यार्थी 'ओम्' शब्द से

परिचित है। यह सबसे छोटे मंत्रों में से एक है, पर है अत्यन्त प्राचीन। यह तीन अक्षरों-- अ, उ और म्-- के संयोग से बना है। ये तीन अक्षर तीन प्राथमिक ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'अ' स्वर समस्त ध्वनियों में सरलतम है। यह ध्वनि मुँह खोलते ही गले से निकलती है और इसलिए इसे समस्त ध्वनियों का 'प्रारम्भ' कहा जा सकता है। 'म्' ध्वनि का उच्चारण तब होता है जब दोनों ओंठ पूरी तरह बन्द हो जाते हैं। अन्य किसी अक्षर के उच्चारण में ऐसा नहीं होता। अतः 'म्' को ध्वनि का 'अन्त' कहा जा सकता है। गले और ओंठों के बीच में जिह्वा है जिस पर से होकर 'उ' स्वर की ध्वनि लुढ़कती है। अतएव, संक्षेप में, ये तीनों अक्षर (संस्कृत व्याकरण द्वारा 'ओम्' के रूप में सन्धिबद्ध होकर) समूची ध्वनि-उत्पादन की प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करते हैं। जितनी भी ध्वनियाँ या शब्द सम्भव हो सकते हैं, वे सभी के सभी 'ओम्' शब्द के द्वारा सूचित होते हैं। यह सभी शब्दों का सार है, और इसलिए समस्त सम्भव भावों का प्रतीक है। तर्क को और थोड़ा आगे ठेलें तो यह ओम् इन भावों के माध्यम से सत्य के सकल सम्भव अंगों या पहलुओं से सम्बन्धित है। समस्त अस्तित्व के महायोग को हिन्दू दर्शन में ब्रह्म के नाम से पुकारा जाता है। अतएव ओम् को ब्रह्म का प्रतीक कहा जाता है। ओम् के जप और ध्यान से मन को भौतिक संसार के बिखराव से समेटा जा

सकता है और उसे क्रमशः आध्यात्मिक सत्ता के राज्य में प्रविष्ट किया जा सकता है।

हिन्दू धर्म ईश्वर के सगुण और निर्गुण दोनों रूपों को स्वीकार करता है। सगुण ईश्वर की उपासना कई रूपों में की जा सकती है। इनमें से प्रत्येक रूप का एक विशिष्ट नाम होता है और वह ईश्वर के किसी विशेष पक्ष पर बल देता है। इन विभिन्न नामों और रूपों के लिए अलग अलग मंत्र होते हैं। साधारणतया, मंत्र में ईश्वर के किसी विशेष रूप का प्रकट या अप्रकट रूप से नाम होता है तथा उसके साथ ही एक या दो या अधिक ऐसे पवित्र शब्द होते हैं जिन्हें शास्त्र की भाषा में 'बीज' कहा जाता है। कभी कभी कोई भक्तिपरक शब्द भी जोड़ दिया जाता है। बहुधा इस शब्द-रचना में 'ओम्' इष्ट देवता के नाम के आगे लगाया जाता है। उदाहरण के लिए, 'ओम् नमः शिवाय' इस सरल मंत्र को ले लें। इस मंत्र में कोई 'बीज' नहीं है। अब, तीन शब्दों के विन्यास से बना यह वाक्य शिव के प्रति भक्त की श्रद्धा को व्यक्त करनेवाली मात्र एक साहित्यिक रचना नहीं है, बल्कि मंत्र के रूप में उसकी शक्ति और उसके प्रभाव का पता तब चलता है जब हम उसे कार्यान्वित करते हैं। जब तक एक औजार पेटी में पड़ा रहता है तब तक उसकी उपयोगिता मालूम नहीं पड़ती; पर जब हम उसे आवश्यक कार्य में नियुक्त करते हैं तब हम उसके प्रभाव को जान पाते हैं। मंत्रों के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही

है। जब साधक गुरु से मंत्र प्राप्त कर लेता है तब उसे गुरु के उपदेशानुसार, प्रति दिन नियत समय पर, विश्वास, लगन, धीरज और उत्साह के साथ, मंत्र की साधना में लग जाना चाहिए। उसे यह आशा नहीं करनी चाहिए कि अल्प समय में ही कुछ ठोस फल प्राप्त हो जायेंगे। बहुत कुछ उसकी तैयारी पर निर्भर करता है। कुछ नैतिक मूल्यों का पालन करना अनिवार्य है।

जैसे भूमि में पड़ा बीज, उचित मात्रा में आर्द्रता और गर्मी प्राप्त कर, धीरे धीरे फूटकर अंकुरित होता है और कालक्रम में एक पौधा बन जाता है, उसी प्रकार मंत्र भी, साधना करने पर, धीरे धीरे, पर निश्चित रूप से, अपनी निहित शक्ति को प्रकट करता है। पहला परिवर्तन यह होगा कि प्राण-वायु सम हो जायेगी, निःश्वास और प्रश्वास की विषमता दूर होगी, अंग-प्रत्यंग स्थिर होंगे और स्नायुओं की उत्तेजना शान्त हो जायेगी। तब, छिपी हुई रचनात्मक शक्ति एक अत्यन्त सूक्ष्म रूप लेकर प्रकट होती है और अपने आप मन के गुप्त कक्षों का भेदन करने लगती है। इन कक्षों से ऐसे ऐसे सूक्ष्म आध्यात्मिक भाव प्रकट होने लगते हैं जिनकी जानकारी मन के भ्रम और बिखराव में रहते कभी नहीं हो सकती थी। ऊपर में हमने जिस मंत्र का उदाहरण दिया, उसकी साधना करनेवाला व्यक्ति ईश्वर के 'शिव'-रूप से सम्बन्धित भावों का अनुभव करेगा। मंत्र के दूसरे भागों यानी 'ओम्' और 'नमः' से सम्बन्धित भाव भी

क्रमशः प्रकट होंगे। ये भाव बौद्धिक स्तर के नहीं होते। वे तो उच्चतर मन की स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्तियाँ होते हैं। वे अपने साथ आध्यात्मिक दृष्टि, विपुल शान्ति और शुद्ध आनन्द की गहरी अनुभूति लेकर आते हैं। वे व्यक्ति को एक दूसरे ही जगत् में उठाकर ले जाते हैं। उनमें इतनी भरपूर शक्ति होती है कि वे अज्ञानी मन की रचना को ही बदल देते हैं। पुरानी, इन्द्रियसीमित दृष्टि के स्थान पर हमें नयी आध्यात्मिक दृष्टि और मूल्य प्राप्त होते हैं।

अन्त में, आध्यात्मिक भाव स्पर्श आध्यात्मिक सत्ता में विलीन हो जाते हैं। साधक को ईश्वर का दर्शन अपने इष्टदेवता शिव के रूप में होता है। तब 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।'—'जब उस परावर सत्ता को देख लेते हैं तो हृदय की गाँठें खुल जाती हैं, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है।' (मुण्डक, २।२।८)

शिव के मंत्र के लिए जो बात लागू होती है वही ईश्वर के अन्य रूपों से सम्बन्धित मंत्रों पर भी लागू होती है। हिन्दू की दृष्टि में ईश्वर एक है पर उसके पास जाने के रास्ते असंख्य हो सकते हैं। यदि साधक आध्यात्मिक साधनाओं की आवश्यक शर्तें पूरी कर लेता है तो फिर वह किसी भी रास्ते से क्यों न जाय, वह आध्यात्मिक पूर्णता को अवश्य प्राप्त करेगा।

जो व्यक्ति ईश्वर के किसी रूप का ध्यान करना नहीं चाहता, वह भी मंत्रों की सहायता ले सकता है। उसके लिए मंत्र निर्गुण-निराकार ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। सौभाग्य से, प्राचीन औपनिषदिक काल से ऐसे कई मंत्र प्रचलित हैं। गुरु ही बतलाते हैं कि किसी साधकविशेष के लिए उनमें से कौनसा मंत्र अधिक उपयुक्त है। यहाँ तक कि, अपने से बाहर किसी ईश्वर की परवाह न करनेवाला कट्टर अद्वैतवादी भी मंत्रों से लाभ उठाता है। उसका मंत्र मानव की यथार्थ आत्मा के सत्य से सम्बन्धित होता है। मंत्रों की सहायता से ध्यान करने की प्रणाली सभी दशाओं में प्रायः समान ही है।

आध्यात्मिक साधक के लिए मंत्र एक बहुमूल्य खजाना है। उसके लिए मंत्र विभिन्न अक्षरों का जड़ समूह मात्र नहीं है, बल्कि वह तो एक जीवित साथी है, मित्र और मार्गदर्शक है। वह सदैव आध्यात्मिक अनुभूति की कृपा प्राप्त कराने के लिए प्रस्तुत रहता है। अतएव यदि कभी मंत्र और उसका अधिष्ठाता इष्टदेवता ये दोनों तद्रूप ही देखे जायँ, तो कोई अचरज नहीं होना चाहिए!

योगीन-माँ

डा. नरेन्द्र देव वर्मा

एक बार युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि श्रीरामकृष्ण देव और श्रीमाँ के आगमन से भारत-वर्ष में पुनः गार्गी और मैत्रेयी तथा उनसे भी अधिक उच्चतर भावसम्पन्ना नारी-रत्नों का अभ्युदय होगा। गोलाप-माँ और योगीन-माँ इसी परम्परा की अग्रवर्तिनी हैं। योगीन-माँ श्रीरामकृष्ण देव की भक्त-महिलाओं में उल्लेखनीय हैं। उनके सम्बन्ध में भगवान् श्रीरामकृष्ण देव ने कहा था, "वह सामान्य कलिका नहीं है। वह तो सहस्त्रार कमल की कलिका है जो धीरे-धीरे प्रस्फुटित होती है।" उनकी यह वाणी कालान्तर में शत-प्रतिशत सत्य सिद्ध हुई थी।

योगीन-माँ का पितृ-नाम श्रीमती योगीन्द्र मोहिनी था। कलकत्ता के बागबाजार स्ट्रीट में १६ जनवरी, १८५१ को श्री प्रसन्नकुमार मित्र की पुत्री के रूप में उनका जन्म हुआ था। उनका शैशव पिता के घर में ही बीता। विवाह-योग्य होने पर पिता ने उनका विवाह खड़दह के विख्यात विश्वास-वंश में श्रीयुत अम्बिकाचरण विश्वास के साथ कर दिया। पर योगीन-माँ का वैवाहिक जीवन सुखद नहीं था। अम्बिकाचरण विश्वास यद्यपि शाक्त थे पर अत्यधिक मद्यपान और अनाचार से वे

आचारहीन हो गये थे। योगीन-माँ ने अपने पति को सुपथगामी बनाने की बड़ी चेष्टा की पर वे असफल ही रहीं। फलतः उन्होंने अपनी एकमात्र कन्या 'गनू' के साथ पति-गृह त्याग दिया और अपने मायके चली आयीं। तब उनके पिता का देहावसान हो चुका था। विधवा माता ने अपनी चिरदुःखिनी पुत्री का स्वागत अश्रुपूर्ण नेत्रों से किया।

इस दुःखिनी महिला ने युगावतार श्रीरामकृष्ण देव का प्रथम दर्शन कलकत्ता में बलराम बोस के घर में किया था। बलराम बोस श्रीरामकृष्ण देव के अन्यतम गृही-भक्त थे तथा यदा-कदा उन्हें अपने घर में भजन-कीर्तन के लिये आमंत्रित करते रहते थे। बलराम बोस योगीन-माँ के मामा-ससुर भी थे, फलतः उनके घर पर योगीन-माँ का आना-जाना बहुत समय से चल रहा था। एक बार जब उन्होंने जाना कि बलराम बाबू के घर पर दक्षिणेश्वर के पुजारी आने वाले हैं तथा उनकी आध्यात्मिक अवस्था बड़ी ऊँची है तब वे भी उनके दर्शन के लिये बलराम बाबू के घर पहुँचीं। उस समय श्रीरामकृष्ण देव दैवी भाव में विभोर थे। चलते समय उन के चरण मतवालों के समान लड़खड़ा रहे थे। योगीन-माँ ने उन्हें देखकर सोचा कि ये सुरापान-मत्त कोई शक्तिसाधक होंगे। फिर भी श्रीरामकृष्ण उन्हें विलक्षण प्रतीत हुए। इसके बाद वे अनेक बार दक्षिणेश्वर गयीं तथा श्रीरामकृष्ण देव का दर्शन किया। प्रत्येक बार

योगीन-माँ को वे अधिकाधिक महिमामय प्रतीत हुए। श्रीरामकृष्ण देव भी योगीन-माँ की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को जान गये थे तथा उन्होंने उन्हें श्रीमाँ सारदा देवी के पास भेजना प्रारम्भ कर दिया।

दो-चार भेंटों में ही श्रीमाँ के साथ योगीन-माँ की आत्मीयता हो गयी। दोनों समवयस्का थीं तथा योगीन-माँ को दुःखिनी जानकर श्रीमाँ ने उन्हें अपने अंक में समेट लिया। कुछ ही दिनों के बाद श्रीमाँ उन्हें अपनी समस्त बातें निःसंकोच भाव से बताने लगीं और उनसे परामर्श लेने लगीं। योगीन-माँ भी उनकी सब भाँति सेवा करने लगीं। वे श्रीमाँ का केश-विन्यास भी कर देतीं। श्रीमाँ को योगीन-माँ द्वारा बाँधी गयी वेणी इतनी पसन्द थी कि वे प्रायः तीन-चार दिनों तक उसे खोलती ही नहीं थीं। वे कहतीं, "यह वेणी योगीन ने बाँधी है। वह जिस दिन आयेगी उसी दिन मैं इसे खोलूँगी।" इस समय के अपने अनुभवों को बताते हुए योगीन-माँ ने कालान्तर में कहा था, "मैं प्रायः सात-आठ दिन के अन्तर से दक्षिणेश्वर जाया करती थी। श्रीमाँ मुझे अपने पास बुलवाकर अपनी उलझनों को बताया करतीं और मुझसे सलाह लेतीं। जब कभी रात को मैं वहाँ रुकती तब वे मुझे अन्य स्थान पर सोने नहीं देतीं और खींचकर नौबतखाने ले जातीं तथा अपने साथ ही सुलाया करतीं। प्रथम दर्शन के कुछ दिनों बाद वे अपने मायके जा रही थीं। मैं गंगा के तट पर खड़ी उनकी प्रतीक्षा

करती रही और जब वे नाव में बैठ गयीं तब मैं उनकी नाव को आँखों से ओझल होते तक देखती रही। फिर मैं नौबतखाने आयी और फूट-फूटकर रो पड़ी। उनसे विलग होने का दुःख मुझसे सहा नहीं गया। ठाकुर ने पंचवटी जाते समय यह सब ताड़ लिया। उन्होंने मुझे अपने कमरे में बुलवाकर कहा, 'तुम्हें उसके जाने से बड़ा दुःख हो गया है न।' उन्होंने मुझे सान्त्वना दी और अपनी तांत्रिक साधना के अनुभवों को बताया। श्रीमाँ डेढ़ साल के बाद जब वापस लौटीं तब ठाकुर ने उनसे कहा, 'वह बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखों वाली लड़की जो यहाँ हमेशा आती है, तुमसे बड़ा स्नेह करती है। तुम्हारे जाने के दिन वह नौबतखाने में बहुत रोयी थी।' श्रीमाँ ने उत्तर दिया, 'हाँ, उसे मैं अच्छी तरह जानती हूँ। उसका नाम योगेन है।' "

योगीन-माँ ने बहुत पहले ही श्वसुर-वंश के कुलगुरु से मंत्र-दीक्षा ले ली थी पर उस मंत्र में जीवनी-शक्ति नहीं थी इसलिये योगीन-माँ को उसके जप में आनन्द नहीं मिलता था। पर जब वे श्रीरामकृष्ण एवं श्रीमाँ के पुनीत सम्पर्क में आयीं तो उनके भीतर एक नवीन आनन्द का संचार हो गया। युगावतार ने जिस स्वर्गिक आनन्द की सरिता बहायी थी उसमें स्नान कर योगीन-माँ कृतार्थ हो गयीं और उन्होंने अपने परिजनों को भी दक्षिणेश्वर आमंत्रित किया। उनकी एकतान साधना और श्रीरामकृष्ण देव के कृपा-कटाक्ष से अम्बिकाचरण

विश्वास का भी हृदय-परिवर्तन हो चला था और वे सत्पथ में चलने का प्रयास कर रहे थे। वे भी दक्षिणेश्वर आने लगे थे। एक बार ठाकुर ने योगीन-माँ से कहा कि भले ही पति कुमार्गगामी हो पर सती का पति के प्रति एक अपरिहार्य कर्त्तव्य होता है। योगीन-माँ ने जब यह सुना तो वे अपने वैवाहिक दुःस्वप्न को सुखमय बनाने की चेष्टा करने लगीं। पर अम्बिकाचरण के दिन पूरे हो गये थे। कुछ ही दिनों बाद वे पागल कुत्ते के काटने से बीमार पड़ गये और उनके प्राण जाते रहे। योगीन-माँ इन दिनों अपने पति की प्राणपण से सेवा करती रहीं।

श्रीरामकृष्ण देव की कृपा से योगीन-माँ की आध्यात्मिक उन्नति द्रुत गति से होने लगी। ठाकुर ने उन्हें जप की विधि सिखलायी थी। ठाकुर ने कहा था कि जप करते समय दाहिने हाथ की उँगलियों को परस्पर सटाकर रखना चाहिये अन्यथा जप का फल उँगलियों के बीच से बह निकलता है। वे योगीन-माँ की भक्ति को देखकर उनके बागबाजार स्ट्रीट वाले मकान में भी गये थे और कीर्तन-भजन किया था। उनकी उत्कट भक्ति और तपस्या को देखकर ठाकुर ने उनसे कहा था, "तुम्हें और क्या पाना बाकी है? तुमने तो इस शरीर (अपनी ओर इंगित करते हुए) को देखा है, भोजन कराया है और इसकी सेवा की है।" एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा था, "देखो, तुम्हारे जो इष्ट हैं वे सब

इस शरीर के भीतर ही हैं। इसके चिन्तन से ही तुम्हारा मन समाधिस्थ हो जायेगा।" बाद में योगीन -माँ ने अनुभव किया कि ध्यान में बैठते ही ठाकुर की मूर्ति उनके मन में उदित हो जाती है।

ऐसे तो योगीन-माँ बड़ी लज्जाशीला थीं तथा पर-पुरुषों के सम्मुख नहीं आती थीं पर ठाकुर को देखते ही उनकी सारी लज्जा जाती रहती थी और वे मुक्त भाव से उनसे बातचीत करती थीं। कुछ महिला-भक्तों को उन्होंने बताया था, "ठाकुर को मेरा मन बहुधा पुरुष नहीं मानता। ऐसा लगता है कि वे हममें से ही एक हैं। इसलिये पुरुषों के निकट जो.लज्जा और संकोच होता है उसका अनुभव ठाकुर के समीप नहीं होता। उनके निकट जाते ही मैं सब कुछ भूल जाती हूँ और अपने मन की बातों को निःसंकोच कह देती हूँ।"

योगीन-माँ का जीवन क्रमशः अधिकाधिक साधना-मय होने लगा। उनके दिवस पूजा-पाठ, जप-ध्यान में व्यतीत होने लगे। श्रीरामकृष्ण देव के लीला-संवरण के समय वे वृन्दावन में 'काला बाबू का कुंज' में रहकर तपस्या में लीन थीं। कुछ दिनों के बाद पति-वियोगिनी श्रीमाँ भी कुररी की भाँति विलाप करती हुई वृन्दावन आयीं और योगीन-माँ को अंक में भरकर रुदन करने लगीं। बाद में योगीन-माँ ने बताया था कि "श्रीमाँ ने मुझे देखते ही बाँहों में भर लिया और अत्यन्त दुःख से अश्रुपात करने लगीं। वृन्दावन में हमारा सारा दिन

रुदन और विलाप में ही बीत जाता था। एक दिन ठाकुर ने हमें दर्शन दिया और बोले, 'अरे, तुम लोग इतनी रोती क्यों हो ? मैं तो यहीं हूँ। मैं और कहाँ जा सकता हूँ ? यह तो केवल एक कमरे से दूसरे कमरे में जाना है।' "

वृन्दावन में श्रीमाँ के साथ निवास करते समय योगीन-माँ को अनुपम आध्यात्मिक अनुभूतियाँ उपलब्ध हुई थीं। लाला बाबू के मन्दिर में वे प्रायः प्रति दिन सन्ध्या ध्यान करने बैठती थीं। एक दिन सन्ध्या जब वे ध्यान करने बैठीं तो उनका मन अनायास समाधिमग्न हो गया। आरती हुई, प्रसाद बँटा, पर योगीन-माँ उसी भाँति बैठी रहीं। रात बीतती जा रही थी। मन्दिर के द्वार बन्द करने का समय भी हो गया। पुजारियों ने उनसे कहा, " ओ माई, उठो, दरवाजा बन्द करना है। " पर वे निस्पन्द बैठी रहीं। इधर श्रीमाँ ने देखा कि योगीन-माँ को लौटने में विलम्ब हो गया है तो उन्होंने एक सेवक को उनकी खोज में भेजा। सेवक जानता था कि योगीन-माँ लाला बाबू के मन्दिर में होंगी। वह लालटेन लेकर वहाँ पहुँचा। योगीन-माँ तब भी समाधिस्थ थीं। जब सेवक ने उनके कानों में श्रीरामकृष्ण देव के नाम का उच्चारण किया तब क्रमशः वे प्रकृतिस्थ हुईं। इस काल की याद करते हुए योगीन-माँ कहा करती थीं, " उन दिनों मैं इतनी उच्च आध्यात्मिक स्थिति में रहा करती थी कि मुझे यह बोध ही

नहीं रहता था कि संसार का अस्तित्व है या नहीं।"
यह योगीन-माँ की पहली समाधि नहीं थी। कलकत्ता में भी उन्हें ऐसी ही अवस्था प्राप्त हुई थी। जब स्वामी विवेकानन्द को इस बात का पता चला तब वे उनसे बोले थे, "योगीन-माँ, तुम समाधि में ही देह-त्याग कर दोगी। जिसे जीवन में एक बार भी समाधि हुई है उसे मृत्यु के समय उसकी स्मृति हो आती है।"

जप-ध्यान करते समय योगीन-माँ को अलौकिक दर्शन भी हुआ करते थे। ध्यान में निविष्ट उनका मन जगत् से ऊपर उठ जाता था तथा उन्हें अनाहत नाद सुन पड़ता था। वे दो बालगोपाल की मूर्तियों की एकाग्रता से पूजा किया करती थीं। एक दिन उन्हें इससे दिव्य अनुभूति हुई थी। इसके सम्बन्ध में बताते हुए उन्होंने कहा था, "एक दिन पूजा के समय ध्यान करते-करते मैंने देखा कि दो अनुपम सुन्दर बालक हँसते हँसते मेरे पास आये और मुझे पकड़कर पीठ पर चढ़ते हुए बोले, 'हम कौन हैं, पहचानती हो ?' मैंने कहा, 'तुम लोगों को भला क्यों न पहचानूंगी ? तुम वीर बलराम हो और तुम हो कृष्ण।' छोटे (कृष्ण) ने कहा, 'अब हम तुम्हारे मन में नहीं रहेंगे।' मैंने पूछा, 'क्यों भला ?' तब उसने मेरे दौहित्र को दिखाते हुए कहा, 'इसके कारण।'" उन दिनों योगीन-माँ का मन अपनी कन्या गनू की मृत्यु के पश्चात् हमेशा उसके पुत्र पर केन्द्रित रहता था। इस ममत्व के कारण उनका ध्यान भी ठीक से नहीं जम पाता था।

यद्यपि योगीन-माँ बाहर से घर-गृहस्थी के झमेलों में फँसी प्रतीत होती थीं किन्तु वे उच्चकोटि की संन्यासिनी थीं। वृन्दावन से जब श्रीमाँ कलकत्ता लौटीं तब वे भी उनके साथ थीं। बेलुड़ ग्राम में नीलाम्बर मुकर्जी के मकान में श्रीमाँ ने पंचतपा व्रत सम्पन्न किया था। इस व्रत में चारों ओर अग्नि प्रज्वलित कर ऊपर से सूर्य के प्रखर उत्ताप को सहते हुए ध्यान करना होता है। श्रीमाँ के साथ योगीन-माँ ने भी यह व्रत किया था। उनमें अद्भुत तितिक्षा थी। एक बार तो उन्होंने छः मास तक जल त्याग दिया था और केवल दुग्धपान कर तपस्या में लगी रहीं थीं। शास्त्रीय पूजन-विधि, कर्मकाण्ड और श्लोक-पाठ में उनकी अद्भुत गति थी। उनकी मेधा अत्यन्त तीक्ष्ण थी तथा उन्हें हिन्दू पुराणों की अनेक कहानियाँ कण्ठस्थ थीं। भगिनी निवेदिता जब अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'क्रेडल टेल्स ऑफ हिन्दुइज्म' लिख रही थीं तब उन्हें योगीन-माँ से अत्यधिक सहायता मिली थी। इसका उल्लेख भगिनी निवेदिता ने उक्त ग्रन्थ की भूमिका में किया है।

वृद्धावस्था में भी योगीन-माँ अपने जप-ध्यान में अत्यधिक नियमित थीं। वे प्रतिदिन गंगास्नान के उपरान्त घाट में ही दो-ढाई घण्टे तक ध्यान किया करतीं। कोलाहल से उन्हें कोई व्यवधान नहीं होता था। शीतकाल और वर्षाकाल में भी उनका यह नियम नहीं टूटा। ध्यान करते समय उनका देह-ज्ञान लुप्त हो जाता था और आँखों में मक्खियों के बैठने पर भी उन्हें उसका

भान नहीं होता था। इसीलिये श्रीमाँ ने कहा था, "योगीन बड़ी तपस्विनी है—वह कितना जप-तप, व्रत आदि करती है!" अन्तिम रुग्णता के दिनों में योगीन-माँ अत्यधिक अशक्त हो गयी थीं। फिर भी वे दूसरों से स्वयं को उठाकर बैठाने के लिये कहतीं ताकि वे अपना दैनन्दिन जप कर सकें अथवा धार्मिक ग्रन्थों को सुन सकें।

श्रीमाँ के साथ योगीन-माँ का भाव-सम्बन्ध अनन्य था। जब योगीन-माँ पहली बार दक्षिणेश्वर आयीं तब उन्होंने ठाकुर की महानता का अनुभव तो किया था पर श्रीमाँ की आध्यात्मिकता के सम्बन्ध में उन्हें कुछ सन्देह था। एक बार वे सोचने लगीं, "ठाकुर तो त्यागी हैं पर माँ घोर संसारी प्रतीत होती हैं।" इसके बाद एक दिन वे गंगातट पर बैठी ध्यान कर रही थीं। उन्होंने अपने अन्तर्नेत्रों से देखा कि ठाकुर आकर कह रहे हैं, "देख, देख, गंगा में क्या बह रहा है?" योगीन-माँ ने देखा, एक सद्य:जात नाल-नाड़ी युक्त शिशु गंगा में बहता आ रहा है। ठाकुर बोले, "गंगा क्या इससे अपवित्र होती है? उसे (श्रीमाँ को) भी ऐसा ही जानना। उसे और (अपनी देह को इंगित करते हुए) इसे अभिन्न जानना।" इसके उपरान्त योगीन-माँ को श्रीमाँ की महिमा का स्पष्ट बोध होने लगा और वे सर्वात्म भाव से उनके प्रति समर्पित हो गयीं। वे प्रति दिन स्नान-ध्यान के पश्चात् 'उद्बोधन' में श्रीमाँ के पास जाया करतीं और ठाकुर के भोग के निमित्त तरकारी काटा करतीं।

दोपहर को वे घर लौटतीं और भोजन पकाकर अपनी माँ तथा अन्य लोगों को खिलाकर स्वयं भोजन करतीं। तीसरे प्रहर वे पुनः श्रीमाँ के पास पहुँचती और उनकी सेवा करतीं। रात्रि में भोग से पश्चात् वे वापस घर लौटतीं। श्रीमाँ के जीवनकाल में वे अनेक बार जयरामवाटी गयी थीं तथा उनके लीला-संवरण के बाद मातृ-मन्दिर की प्रतिष्ठा के अवसर पर भी वे वहाँ उपस्थित थीं।

श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य योगीन-माँ के प्रति अतीव श्रद्धा रखते थे। स्वामी विवेकानन्द उनसे अत्यन्त स्नेह करते थे। नौका से मठ लौटते समय वे प्रायः बागबाजार घाट में उतरकर योगीन-माँ के घर चले आते और कहते "योगीन-माँ, आज तुम्हारे यहाँ खाऊँगा। मेरी पसन्द की तरकारी बनाओ।" एक बार जब योगीन-माँ काशीवास कर रही थीं तब स्वामीजी उनके निवास पर आ गये और बोले, "योगीन-माँ, देखो, यह तुम्हारा विश्वनाथ आया है।" स्वामीजी को योगीन-माँ की रसोई बड़ी प्रिय थी इसलिये वे बहुधा उनके घर जाकर कहते, "योगीन-माँ, आज मेरा जन्मदिन है। मुझे खीर बनाकर अच्छी तरह से खिलाओ।"

योगीन-माँ की स्मृति में श्रीरामकृष्ण देव और उनकी स्त्री-भक्तों की बातें अविकल रूप से अंकित थीं। वे अवसर देखकर उन्हें उद्धृत किया करती थीं। 'श्रीरामकृष्ण लीलाप्रसंग' की रचना करते समय स्वामी सारदानन्द

जी को उनसे अनेक बातें ज्ञात हुई थीं। उनमें दीन–दु:खियों के प्रति अपार दया का भाव भी था तथा उनके द्वार से कोई भिखारी खाली हाथ नहीं लौटता था। योगीन-माँ ने गृहस्थी में रहते हुए भी पहले ही प्रसिद्ध तांत्रिक ईश्वरचन्द्र चक्रवर्ती से कौल-संन्यास ग्रहण किया था तथा तंत्रोक्त प्रणाली के अनुरूप साधना भी की थी। कालान्तर में उन्होंने वैदिक रूप से भी संन्यास-दीक्षा ली थी पर उनमें आत्मगोपन की भावना बड़ी गहरी थी। वे केवल पूजा करते समय ही गेरुआ वस्त्र धारण करती थीं तथा शेष समय श्वेत परिधान पहने रहती थीं।

ऐसे तो योगीन-माँ का समस्त जीवन साधनामय था पर उनका जागतिक जीवन सुखद नहीं रहा। १९०६ में उनकी पुत्री गनू विधवा हो गयी। तीन वर्ष पश्चात् एक दौहित्र के देहावसान के बाद गनू की भी मृत्यु हो गयी और योगीन-माँ काशी से तीन अनाथ दौहित्रों के साथ वापस लौटीं। उनकी शिक्षा-दीक्षा का पूरा भार योगीन-माँ ने उठाया पर उनका मन ठाकुर के पादाम्बुजों से विचलित नहीं हुआ। १९१४ में योगीन-माँ की माता की भी मृत्यु हो गयी। इन समस्त विपदाओं में योगीन-माँ की आध्यात्मिक साधना निर्बाध रूप से चलती रही। अन्त-अन्त में जब वे रोगग्रस्त हो गयी थीं तब भी उनके मुख से निरन्तर 'गोपाल' 'गोपाल' की ध्वनि मुखरित होती रहती थी। अन्तिम कुछ दिन उन्होंने बोलना-चालना बन्द कर दिया और खाने-पीने की चेष्टा

भी बन्द कर दी। चिकित्सक से जब स्वामी सारदानन्द ने पूछा कि क्या उन्हें रोगजन्य मूर्च्छा है तो चिकित्सक ने असहमति व्यक्त की। इस पर स्वामी सारदानन्द जी ने उपस्थित जनों को बताया, "एक बार ठाकुर ने योगीन-माँ से कहा था, 'व्याकुल क्यों होती हो? मृत्यु के समय तुम्हारा सहस्रदल पद्म विकसित हो जायेगा और तुम्हें परम ज्ञान की उपलब्धि होगी।" तो, वस्तुतः वह समाधि की अवस्था थी। बुधवार ४ जून, १९२४ को उसी अवस्था में योगीन-माँ महासमाधि में लीन हो गयी।

योगीन-माँ जगज्जननी की नित्यसहचरी और चिर-संगिनी थीं। इसका उल्लेख करते हुए श्री माँ ने एक बार कहा था, "योगेन मेरी जया है; मेरी सखी, सहचरी और साथिन है. ... मेरे जीवन में जो कुछ घटा है उसे योगीन और गोलाप अच्छी तरह से जानती हैं... लड़कियों में योगेन ज्ञानी है।" महिला-भक्तों को उपदेश देते हुए उन्होंने कहा था, "योगेन और गोलाप कितना जप-ध्यान करती हैं! उनकी बातें करने पर तुम लोगों का कल्याण होगा।" स्वामी विवेकानन्द का विश्वास था कि योगीन माँ तथा अन्य महिला भक्तों के अवलम्बन से श्रीरामकृष्ण देव की भावधारा का प्रसार समग्र नारी-जाति में होगा। इसलिए वे इन लोगों के माध्यम से नारी-मठ की अपनी कल्पना को चरितार्थ करना चाहते थे।

मृत्यु-एक अटल सत्य

शरद् चन्द्र पेंढारकर एम. ए.

मानव को इस संसार में जन्म लेने पर यदि किसी बात की चिन्ता सताया करती है, तो वह है मृत्यु। मृत्यु उसे जीवन भर भयभीत करती रहती है। जन्म और मृत्यु, ये दोनों मानव-जीवन के अविभाज्य अंग हैं। ऐसा कोई भी जीव नहीं, जो मृत्यु के शिकंजे से बच जाये। मानव कितना भी महान् क्यों न हो, मृत्यु के सम्मुख उसका बस नहीं चलता। मृत्यु यह नहीं देखती कि कोई व्यक्ति स्त्री है अथवा पुरुष, युवा है अथवा बाल, धनी है अथवा निर्धन, आस्तिक है अथवा नास्तिक; वह अपने कठोर पाश से एक न एक दिन प्रत्येक को जकड़ ही लेती है।

मानव-जीवन का सर्वाधिक कटु यथार्थ मृत्यु की अनिवार्यता है। मृत्यु अटल है---अडिग है---अवश्यम्भावी है। बुद्धि उसके सम्मुख परास्त हो जाती है और युक्ति नतमस्तक। कालरूपी मृत्यु के समक्ष सभी पराजित हैं। मृत्यु आये दिन हमारे सम्मुख घटित होती रहती है। तनिक-सी बात को लेकर वह अपना भक्ष्य खोजती है और उसे आत्मग्रास कर लेती है। अपने इष्टमित्रों एवं सम्बन्धियों में से किसी न किसी को हम देखते देखते मृत्यु का शिकार हुआ पाते हैं और तब बरबस हमारे

मुख से शब्द फूट पड़ते हैं कि "अरे, कल तक तो वह चंगा था", "मुझसे तो आज सुबह ही उसकी मुलाकात हुई थी!" इत्यादि। उस समय हमें मृत्यु की करालता की की प्रतीति हो जाती है।

जीवन और मृत्यु एक ही तथ्य के दो पहलू हैं। जीवन और मृत्यु का सम्बन्ध एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। मृत्यु की मीमांसा करने के पूर्व हमें जीवन के सम्बन्ध में भी जान लेना आवश्यक है। वैसे जीवन का उपभोग तो मानत्र ही नहीं, पशु-पक्षी एवं कीड़े-मकोड़े भी करते हैं, किन्तु सच्चा सुख तो बिरलों को ही प्राप्त होता है। जीवन का अनुभव भिन्न-भिन्न प्रसंगो में भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है---

वर्षा की रिमझिम में आम की डाली पर फुदकती कोयल मन ही मन कहती है---जीवन कुछ नहीं, बस आनन्द ही आनन्द है।

वर्षा के कारण टूटे घोंसले को पुनः बनाते हुए चिड़िया कहती है---जीवन तो बस संग्राम है।

वर्षा की रात्रि में बहुत प्रयत्न करने पर भी जब निर्धन कृषक अपनी झोपड़ी का छप्पर ठीक नहीं कर पाता और अपनी पत्नी एवं बच्चों को आश्रय देने में असमर्थता महसूस करता है, तो कह उठता है---जीवन एक निष्फल परिश्रम है।

खिड़की में से आती हुई वर्षा की बूंदों से भीगती, पलंग पर लेटी हुई महिला कहती है---जीवन फूलों की

सेज है।

वर्षा में सराबोर कुत्ता पिंजड़े में बन्द तोते को देख-कर कहता है––गुलामी मौत और आजादी ही वास्तव में जीवन है।

इस तरह जीवन के बारे में प्रत्येक को नया नया अनुभव प्राप्त होता रहता है। तथापि यह सत्य है कि प्रत्येक प्राणी जीवन की विषमताओं से जूझते हुए आनन्द की प्राप्ति का ही प्रयास करता रहता है।

एक बार महात्मा टाल्स्टाय को एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया, "महाशय! जीवन क्या है, समझायें?" उत्तर में टाल्स्टाय ने उसे निम्न रूपक सुनाया––

"एक बार एक यात्री जंगल से जा रहा था कि अक-स्मात् एक वन्य हाथी उसकी ओर झपटा। अपनी रक्षा का कोई अन्य उपाय न देख वह यात्री समीप के एक अन्धे कुएँ में कूद पड़ा। उस कुएँ में एक वटवृक्ष उग आया था, जिसकी एक जड़ पकड़कर वह लटका रहा।

"कुछ देर बाद उस मनुष्य ने नीचे की ओर देखा कि शायद त्राण का कोई मार्ग दिखायी पड़े, किन्तु मार्ग तो नहीं, अलबत्ता साक्षात् मौत खड़ी दिखायी दी। एक विकराल मगर मुँह फाड़े उसके नीचे गिरने की ही राह देख रहा था। भयकम्पित निरुपाय आँखों से उसने वृक्ष पर दृष्टि फेरी, तो उसे शहद के एक छत्ते से बूँद बूँद मधु टपकता हुआ दिखायी पड़ा। वह टपकते हुए मधु की बूँदों के नीचे अपना मुँह ले गया और मधु का स्वाद

लेने लगा।

"लेकिन यह क्या? उसने साश्चर्य देखा कि वट की जिस जड़ को पकड़कर वह लटका हुआ था, उसे एक सफेद और एक काला चूहा कुतर-कुतर कर काट रहे थे . . . . ।"

जिज्ञासु की प्रश्नसूचक मुद्रा को देखकर टालस्टाय उससे बोले--"नहीं समझे तुम? वह हाथी 'काल' था, मगर 'मृत्यु' था, मधु 'जीवन-रस' और काला तथा सफेद चूहे 'दिन' एवं 'रात्रि' थे और इन सबका सम्मिलित नाम ही जीवन है।"

मनुष्य रात्रि को सोने के उपरान्त जब प्रातः उठता है, तो उसके शरीर में नयी ताजगी, नया उत्साह, नयी उमंग रहती है। ठीक इसी प्रकार मृत्यु का है--मृत्यु एक महानिद्रा है। इस निद्रा के पश्चात् जीव को फिर कभी उठने का अवसर प्राप्त नहीं होता। 'कामायनी' के रचयिता 'प्रसाद' सागर का मानवीकरण करते हुए मृत्यु को चिरनिद्रा की संज्ञा देते हुए कहते हैं--

मृत्यु, अरी चिर निद्रे तेरा,
अंक हिमानी-सा शीतल।
तू अनन्त में लहर बनाती,
काल जलधि की सी हलचल॥

(हे मृत्यु, तेरी गोद बर्फ के समान शीतल है। अर्थात्, मृत्यु में जीवन का ताप शान्त हो जाता है और जीवधारी देह के निकल जाने पर वह जड़ हो जाती है।

जिस प्रकार सागर में लहरें उठा करती हैं और उसकी अखण्डता में ही उनका विभाजन हो जाता है, उसी प्रकार मृत्यु भी इस अनन्त समय रूपी सागर में उठी एक लहर के समान है, जो उसके तल पर हलचल मचा देती है।)

उर्दू का एक शायर भी मृत्यु को 'मधुर निद्रा' मानकर उससे न घबराने का सन्देश देता है—

जीना जंग है तूफानों का,
मौत है मीठी नींद फकत।
जीने से जब डर नहीं मुझको,
मौत से क्या घबराना है?

मृत्यु जीवन की चिरनिद्रा ही नहीं, अपितु महायात्रा भी है—महाप्रस्थान भी है। उसे जीवनयात्रा का गन्तव्य-स्थान कहें, तो अधिक उपयुक्त होगा। मृत्यु न हो तो मानव को यह जीवन असह्य महसूस होगा। मृत्यु के कारण ही उसे सच्चा सुख प्राप्त होता है। इसके उदाहरण के रूप में व्याधि से जर्जर एक असहाय रोगी को लिया जा सकता है। यदि उसकी मृत्यु न हो, तो उसे होने वाले कष्ट और क्लेशों के कारण उसकी दशा क्या होगी इसकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। रोगी ही क्यों, ऐसा कोई भी व्यक्ति इस संसार में नहीं है, जो यह कह दे कि वह पूर्णतः सुखी है। राजा हो या रंक, प्रत्येक किसी न किसी कारण दुःखी है। मृत्यु मनुष्य को दुःख अथवा असन्तोष से मुक्त कर देती है।

गीताकार भगवान् कृष्ण मृत्यु को वस्त्र बदलने के सदृश मानते हैं। जीवन के जीर्ण-शीर्ण वस्त्र उतारकर नवीन वस्त्रों को धारण करना ही उनकी दृष्टि में मृत्यु है। वे 'श्रीमद्भवद्गीता' के द्वितीय अध्याय में अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं--

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

(जिस तरह मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्र ग्रहण करता है, उसी तरह जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त करता है।)

प्रारम्भ में बताया गया है कि मनुष्य मृत्यु से डरता रहता है। यानी, भय मृत्यु को भी दबा देता है। वह मनुष्य को कुछ क्षण के लिए मृत्यु का भी विस्मरण करा देता है। इसका एक उदाहरण देखें--

दो उल्लू विपरीत दिशाओं से आकर एक वृक्ष पर ठहर गये। उनमें से एक के मुख में जीवित सर्प था, तो दूसरे के मुख में एक जीवित चूहा। सर्प ने चूहे की ओर देखा तो उसके मुख में पानी आ गया और वह उस चूहे को पकड़ने के लिए अपना शरीर हिलाने लगा। इधर चूहे ने सर्प की ओर जो देखा तो वह बेचारा भय के मारे काँपने लगा। दोनो उल्लुओं ने अपने अपने भक्ष्यों की यह दशा

देखी, तो एक ने दूसरे से प्रश्न किया, "मित्र, तुम्हारे ध्यान में कोई बात आयी?"

"हां, मित्र," वह दूसरा उल्लू बोला," एक तो यह कि जीभ के वश में होने के कारण जीव को अपनी मृत्यु का स्मरण नहीं रहता और दूसरा यह कि भय मृत्यु से भी भयंकर होता है।"

उस उल्लू द्वारा प्रतिपादित तथ्य बिलकुल सत्य है। सर्प को, यह जानते हुए भी कि उसका जीवन कुछ ही क्षणों के लिए है, अपने भक्ष्य को देखकर मृत्यु का विस्मरण हो गया, जबकि चूहा, जो भी जानता था कि मृत्यु उसके ऊपर सवार है, सामने सर्प देखकर भयभीत हो गया। यानी भय उसे मृत्यु की अपेक्षा अधिक असहनीय हुआ। मनुष्यों का भी यही हाल है। वे जानते हैं कि उन्हें एक न एक दिन इस संसार से जाना है, उनकी निजी कही जाने वाली चीजें उनके साथ न जा सकेंगी; मरणोपरान्त उन्हें किये गये पापों का परिणाम भुगतना होगा, फिर भी उन्हें सबका मोह बना रहता है और वे पाप-कर्म किये जाते हैं। किन्तु अन्तिम अवस्था में उन्हें किये गये पापों के परिणाम की आशंका भयभीत कर देती है और तब उन्हें पश्चात्ताप होने लगता है। जब औरंगजेब सरीखे महान् पापी की अन्तिम रात्रि भी पश्चात्ताप के अश्रुओं में डूब गयी, तब अन्यों की बात ही क्या?

प्रश्न उठता है कि मनुष्य मृत्यु से इतना डरता क्यों है? मृत्यु उसे इतना भयभीत क्यों बना देती है? बात

यह है कि मनुष्य सुख की आकांक्षा में जीवन-यापन करता रहता है। मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी का, प्राणों से भी प्यारे बच्चों का क्या होगा, यही बात उसे भय-कम्पित करती रहती है। मृत्यु के कारण उसे अपने कुटुम्ब, आत्मीयजन और सम्पत्ति से विमुख होना पड़ेगा, इन बातों का भय उसे सताता रहता है। इसके विपरीत, जो व्यक्ति स्वदेश हेतु, स्वधर्म हेतु सत्कर्म करते रहते हैं, उनके लिए मृत्यु तृणवत् रहती है और इसीलिए उन्हें सुखद मृत्यु प्राप्त होती है। प्रभु ईसा, स्वामी दयानन्द और सुक-रात जैसे महात्माओं तथा भगतसिंह, 'आज़ाद' प्रभृति देश-प्रेमियों ने अपने कर्त्तव्य के सम्मुख अपने शरीर तथा आत्मीय जनों का मोह त्यागकर आत्मोत्सर्ग किया और यही कारण है कि आज वे मरकर भी अमर हैं।

एक ग्राम में सन्त गाडगे महाराज का हरि-कीर्तन चल रहा था। श्रोतागण रसविभोर हो उपदेशामृत ग्रहण कर रहे थे कि इतने में एक तार-कर्मचारी वहाँ तार लेकर आया। उनके शिष्यों में से एक ने उसे लेकर जो पढ़ा, तो वह सन्न रह गया। कुछ क्षणों के पश्चात् वह करुण स्वर में बोला, "महाराज, आपके पुत्र के निधन का समाचार है।"

गाडगे महाराज क्षणभर चुप रहे, फिर उनके मुख से निम्न पंक्तियाँ स्फुरित हुईं--

"तुकाराम महाराज म्हणतात्–
ऐसे मेले कोटयानुकोटी
काय रडू म्यांए कासाठी ?"

(तुकाराम महाराज का कथन है कि ऐसे करोड़ों लोगों की मृत्यु हो चुकी है फिर भला मैं ही एक के लिए क्यों रुदन करूँ?) और उन्होंने हरिकीर्तन जारी रखा।

इसी तरह प्लेग के दिनों में लोकमान्य तिलक, जो 'केसरी' पत्र के सम्पादक थे, का पुत्र प्लेग का शिकार हो गया। पुत्र की दशा चिन्ताजनक होते हुए भी जब वे 'केसरी' कार्यालय जाने को उद्यत हुए थे, तो उनके एक मित्र ने उन्हें टोंका था, "लड़का मौत से जूझ रहा है और आप प्रेस जा रहे हैं! यदि न जायें, तो काम न चलेगा?"

गम्भीर एवं संयत स्वर में तिलकजी ने उत्तर दिया था, "सारा महाराष्ट्र 'केसरी' की प्रतीक्षा में बैठा है, ऐसी स्थिति में भला न जाकर कैसे चलेगा?" और वे तत्क्षण प्रेस की ओर रवाना हो गये थे।

ऊपर कहा जा चुका है कि मृत्यु तनिक-सी बात को लेकर अपना भक्ष्य खोजती है। साधारणतया मृत्यु पाँच तरीकों से शिकार करती है। पहला तो नैसर्गिक है। इसमें किसी व्यक्ति की मृत्यु वृद्धावस्था में जीवन का आनन्द लेने के उपरान्त स्वाभाविक रूप से होती है। मनुष्य की यह अवस्था ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार कोई आम्रफल पूर्ण परिपक्व होने पर धरती पर आ टपकता है। इस अवस्था में मनुष्य सुखपूर्वक इस संसार से बिदा होता है । पर बिरले ही लोगों को ऐसी सुखद मृत्यु प्राप्त होती है। ऐसे मनुष्यों की मृत्यु के समय, न

तो उन्हें और न उनके आत्मीय जनों को ही उनका जीवन भारस्वरूप प्रतीत होता है।

मृत्यु का द्वितीय तरीका व्याधि होता है। यह व्याधि पुरानी और आकस्मिक दोनों हो सकती है। पुरानी व्याधि के कारण न तो उस रोगी को अपना अस्तित्व भाता है, न उसके आत्मीय जनों को ही। कैंसर, महारोग टी. बी. इत्यादि से जर्जर रोगियों के सम्बन्धी तो कभी कभी उनकी तड़फड़ाहट और शुश्रूषा के कारण तंग आकर मन ही मन प्रभु से उनकी मृत्यु माँगकर कष्ट-निवारण की कामना करते हैं।

मृत्यु के लिए आकस्मिक व्याधि द्वारा किसी व्यक्ति को आत्मग्रास करने के लिए एक क्षण भी पर्याप्त होता है। जरासी लू लगना किसी की मृत्यु का कारण बन जाता है। ऐसी मृत्यु कभी कभी मृत व्यक्ति के आत्मीय-जनों को पागल बना देती है। कोई कोई सम्बन्धी उसका वियोग सहन न कर सकने के कारण आत्मघात भी कर बैठते हैं। ऐसी मृत्यु निर्दयता की परिचायक होती है।

तीसरा तरीका, आकस्मिक मृत्यु, के ही अन्तर्गत आ सकता है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें मृत्यु का कारण व्याधि नहीं, बल्कि दुर्घटना होती है। ऐसी मृत्यु भी आत्मीय जनों के लिए असहनीय एवं हानिप्रद हो सकती है।

चतुर्थ तरीका हत्या होता है। इसमें मृत्यु किसी अन्य

के हाथों किसी मनुष्य का जीवन समाप्त कराती है। हत्यारे चोर-डाकू ही नहीं, उसके सम्बन्धी भी हो सकते हैं। हत्या के पीछे लोभ या क्रोध ही मूल कारण होता है। मनुष्य स्वयं तो मृत्यु से घबराता है किन्तु लोभ या क्रोध का संवरण न करने के कारण दूसरे की हत्या करने पर उतारू हो जाता है। कुत्तों और तोतों से लाड़-दुलार करनेवाले लोग मांस का भक्षण करते हैं और किसी की हत्या करते तनिक भी नहीं हिचकिचाते !

मृत्यु का अन्तिम तरीका आत्महत्या अथवा आत्मघात होता है। मनुष्य के हाथों जब कोई गुनाह होता है अथवा जब वह किसी कारणवश समाज में अपना मुँह दिखाना उचित नहीं समझता, तब वह इस तरीके का सहारा लेता है। इसमें प्रेरणा मृत्यु की होती है, जबकि कर्ता मनुष्य स्वयं होता है। वैसे आत्महत्या करना इतना सहज नहीं, जितनी कि हम कल्पना करते हैं। "मैं जान दे दूँगा", "मैं आत्महत्या करूँगा" इत्यादि कहना अत्यन्त सरल है, किन्तु प्रत्यक्ष अवसर आने पर उस मनुष्य का निश्चय टूट जाता है। देखा तो यहाँ तक गया है कि जब मनुष्य स्वयं की देह पर तेल छिड़ककर आग लगा लेता है, तो अग्नि का ताप असहनीय होने के कारण वह स्वयं ही 'बचाओ, बचाओ' चिल्लाने लगता है। यही कारण है कि आत्महत्याएँ शत-प्रतिशत सफल नहीं हुआ करतीं। आत्महत्या के कई कारण हो सकते हैं। गृहकलह, मानहानि, असफलता, प्रेमभंग, दहेजप्रथा,

क्षुधा, पश्चात्ताप, असाध्य रोग इत्यादि। वस्तुतः जीवन मृत्यु की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर है। तुच्छ बातों के लिए आत्मघात कर लेना उचित नहीं। जीवन के समर-प्रांगण में वीरतापूर्वक जूझते हुए मृत्यु की घाटी तक पहुँचना जितना गौरवपूर्ण, सुखकर और मोक्षप्रद है, परिस्थितियों की चपेट में आकर क्लेशों और यातनाओं के दंशन से तिलमिलाकर आत्मघात कर लेना उतना ही गर्हित और अनुचित है। इसीलिए जो आत्मघात करते हैं, वे स्वयं का तो जीवन समाप्त करते ही हैं, अन्यों का भी सर्वनाश करते हैं। गीदड़ों की तरह पलायन करने की अपेक्षा सिंहपुरुषों की तरह जीना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। एक उर्दू कवि की निम्न पंक्तियाँ जीवन का सही उपयोग करने की प्रेरणा देती है--

मौत कभी भी मिल सकती है,
पर यह जीवन कल न मिलेगा।
मरने वाले सोच समझ ले,
फिर तुझको यह पल न मिलेगा।।

इस सम्बन्ध में वेदों में एक सुन्दर कथा आती हैं-- निर्विकल्प समाधि की साधना में जब सफलता न मिली, तो महर्षि उद्दालक ने सोचा 'असफल होकर जीना क्या? निराहार रहकर मृत्यु का वरण करना ही श्रेयस्कर होगा।' और उन्होंने अन्न-जल त्यागकर मरण की साधना आरम्भ कर दी।

जिस वटवृक्ष के नीचे महर्षि का अनशन-व्रत चल

रहा था, उसके कोटर में वीरुध नामक एक बूढ़ा तोता रहता था। उसने ऋषि को सन्तप्त दृष्टि से देखा और सजल नेत्रों से कहा, "वाचालता क्षमा करें, तो एकबात पूछूँ ?" उद्दालक ने आँखे खोलीं और वे तोते से बोले, "कहो, क्या कहना है?" वीरुध बोला, "शरीर तो मरण-धर्मा है ही, उसकी मृत्यु-योजना करने में क्या पुरुषार्थ हुआ ? मृत्यु को अमरता में बदलने के लिए ऐसा ही दृढ़ निश्चय किया जाय और इतना ही त्याग किया जाय, तो क्या अमृत की प्राप्ति न होगी ?" उद्दालक देर तक सोचते रहे। शुक की वाणी उनके अन्तस्तल तक प्रवेश कर गयी। अनशन त्यागकर ऋषि ने अमृत की प्राप्ति के लिए जब प्रबल पुरुषार्थ आरम्भ किया, तो अन्त में निर्विकल्प समाधि भी उनके सामने आ उपस्थित हुई।

अतएव मनुष्य को कष्टों को झेलते हुए उत्साहपूर्वक जीवनयापन करना चाहिए। इसीसे उसकी आत्मोन्नति हो सकती है।

मृत्यु की ओर हम ध्यान रखें, तो यह जीवन उतना दुखदायी प्रतीत न होगा, जितनी कि हम कल्पना करते हैं। महात्माओं एवं महापुरुषों ने मृत्यु को हमेशा भय-रहित माना। वे मृत्यु को वरण करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। 'अन्त मति, सो गति' इस सिद्धान्त को वे माना करते थे। उनके जीवन चरित्रों का पठन करने पर हमें उक्त तथ्य की सत्यता प्रतीत होती है। मृत्यु के

समय अच्छी भावनाओं का होना भी श्रेयस्कर है। श्रीकृष्ण गीता के अष्टम अध्याय में कहते हैं--

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय, सदा तद्भावभावित: ।।

(हे अर्जुन ! मनुष्य जिस भावना को अपनी मृत्यु के समय हृदय में धारण करके अपने प्राणों को छोड़ता है, उसी गति को वह प्राप्त करता है।)

सन्तजनों के मुख से उनके अन्तिम क्षणों में निकले उद्‌गारों को देखें, तो मृत्यु सम्बन्धी उनकी भावनाओं का स्पष्टीकरण हो जाता है।

भगवान् बुद्ध के निर्वाण के समय उनका प्रिय शिष्य जब जोरों से विलाप करने लगा, तो बुद्धदेव उससे बोले, "प्रिय शिष्य, यह बेला विलाप करने की नहीं है। तुझे स्वयं अब दीपक बनना चाहिए और मेरी परम्परा कायम रख दूसरों के सम्मुख आदर्श स्थापित करना चाहिए।"

समर्थ रामदास अपने शिष्यों से बोले, "अरे, रोते क्यों हो ? मैं नहीं तो क्या, मेरा 'दासबोध' तो जीवित है !"

स्वामी दयानन्द को विष देकर उनकी हत्या की गयी थी। यह जानते हुए भी कि उन्हें विष दिया गया है, वह सन्त पुरुष खामोश ही रहा। उसने वेद-मंत्र पढ़े और उसके मुख से निम्न शब्द निकले--"हे ईश्वर ! तेरी इच्छा पूर्ण हो !" और उसने प्राणलीला छोड़ दी।

सन्त तुकाराम के अन्तिम उद्‌गार थे--"हे भगवन् !

तू पुनः जीवन देना। रामकृष्ण हरी!"

सिक्ख धर्म के प्रसारक गुरु गोविन्दसिंह ने 'सत् श्री अकाल' कहकर इस संसार से बिदाई ली।

महात्मा गाँधी प्रभु का नामस्मरण करना न भूले और वे "हे राम!" ये दो शब्द कहकर इस संसार से चल बसे।

भगिनी निवेदिता के अन्तिम शब्दों में उनका देश-प्रेम व्यक्त होता है। वे शब्द थे--"वह देखो, उषःकाल हो रहा है। मुझे भारत का उषःकाल दिखायी दे रहा है। अब मैं सुख से मरती हूँ।"

अब संसार के कुछ महान् नेताओं एवं लेखकों के अन्तिम उद्‌गार देखें--

"मौत आ गयी, चलो अच्छा ही हुआ!"

--जॉर्ज वाशिंगटन

"लगता है, मेरी देह में फूल ही फूल उग रहे हैं।"

--जॉन कीट्स

"प्रकाश! और अधिक प्रकाश!"--गेटे

"बत्तियाँ जला दो, मैं अँधेरे में नहीं जाऊँगा!"

--ओ. हेनरी

"अगर इस वक्त कलम पकड़ने की ताकत होती, तो मैं लिखता कि मरना कितना उल्लासप्रद और आसान है।"

--डॉ. विलियम हंटर

इस अजेय और अटल मृत्यु को क्या बस में नहीं लाया जा सकता? क्या कोई ऐसी दवा ईजाद नहीं हुई है, जो

मृत्यु को टाल सके? नहीं, कम से कम आज तो ऐसी कोई दवा उपलब्ध नहीं, जो मनुष्य को मृत्यु के पाश से छुड़ा सके। वैज्ञानिक अवश्य इस प्रयत्न में लगे हैं, और वे शरीर के किसी रोगग्रस्त अंग के स्थान पर नया अंग लगाकर उस मनुष्य का जीवन कुछ काल तक बढ़ाने में अवश्य सफल हुए हैं। पर मृत्यु को रोकने में तो वे असमर्थ ही हैं। हाँ, पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ अवश्य मिलती हैं, जिनमें अमरत्व प्राप्त करने हेतु सुरों एवं असुरों के प्रयत्नों की चर्चा आती है। समुद्र-मन्थन के समय निकले चौदह रत्नों में एक रत्न अमृत भी था, जिसका पान कर अमरत्व प्राप्त करने के लिए देवों और असुरों मे होड़ लगी थी। तब भगवान विष्णु को मोहिनी रूप धारण कर बड़ी चालाकी से असुरों को अमृत-पान करने से वंचित करना पड़ा था। असुरों के गुरु शुक्राचार्य को तो 'संजीवनी' विद्या अवगत थी और वे उसके बल पर मृत असुरों को पुनरुज्जीवित कर देते थे। अमरत्व प्राप्त करने के लिए ही असुर भगवान् भोलेशंकर को कड़ी तपस्या द्वारा प्रसन्न करके वैसा वरदान माँगा करते, किन्तु वर-प्राप्ति के उपरान्त भी उनकी मृत्यु के लिए कोई न कोई बन्धन अवश्य रहा करता था और वही उनकी मृत्यु का कारण बन जाता था।

सारांश यह कि मृत्यु अवश्यम्भावी है, वह होकर रहेगी। उसके कारण ही इस संसार का आनन्द टिका हुआ है। इसी के कारण लोगों के आपसी सम्बन्ध टिके हुए

हैं। यदि मनुष्य को अमरता प्राप्त हो जाय तो ये सारे सम्बन्ध टूट जायँ। मृत्यु के भय का ज्ञान ही मनुष्य को निःस्वार्थता से जीवनयापन करने की प्रेरणा देता है। यदि मनुष्य मृत्यु की अपेक्षा जीवन का चिन्तन करे और यह सोचे कि जीवन का सच्चा उपभोग कैसे किया जा सकता है तो उसका जीवन सार्थक होगा और उसे सुखद मृत्यु प्राप्त हो सकेगी।

●

गीता-प्रवचन ५

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

पिछले प्रवचन में हमने गीता के अनुबन्ध-चतुष्टय पर विचार किया था। उसके माध्यम से यह देखने का प्रयास किया कि वास्तव में गीता की रचना किस उद्देश्य से हुई है। कुछ लोग कहा करते हैं कि अर्जुन के माध्यम से जीवों को आत्मज्ञान का पाठ पढ़ाने के लिए गीता कही गयी। कुछ दूसरों का मत है कि भक्ति और शरणागति के माध्यम से, भगवत्प्रपन्नता के द्वारा जीव के क्लेशों का निवारण ही गीता का प्रयोजन है। कुछ तीसरे इस मत के हैं कि गीता में कर्मयोग की बात विशेष तौर पर कही गयी है। कुछ चौथे राजयोग को गीता का प्रतिपाद्य विषय मानते हैं। हमारी दृष्टि में ये सभी उत्तर ठीक हैं क्योंकि गीता में इन सभी बातों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। गीता तो एक अथाह रत्नाकर है। रत्नाकर का—समुद्र का तल जाने कितने अनमोल रत्नों से भरा पड़ा है। गोताखोर अपनीअ पनी सामर्थ्य के अनुसार समुद्र में गोते लगाते हैं और जो मोती हाथ लग जाता है उसे लेकर ऊपर चले आते हैं। यथार्थ गोताखोर तो वह है जो जानता है कि रत्नाकर का तल

अनगिनत मोतियों से भरा पड़ा है। भले ही उसे एक बहुत बड़ा मोती मिल जाय, पर वह ऐसा नहीं सोचेगा कि समुद्र में अब इससे बड़ा मोती नहीं है। गीता ऐसा ही रत्नाकर है। गीता में गोता लगानेवाले भी बहुत हैं। कुछ तो केवल नाम के गोताखोर होते हैं, वे पानी की सतह से अधिक नीचे नहीं जा पाते। कुछ इनकी अपेक्षा अधिक जानकार होते हैं जो अधिक गहराई तक उतर जाते हैं, पर ये वापस लौटते समय हाथ में मोती के बदले सीपी और शंख लेकर निकल आते हैं। तीन-चार बार प्रयत्न करने पर भी जब इन लोगों को मोती नहीं मिलता, तो वे ऐसी धारणा कर बैठते हैं कि समुद्र में मोती ही नहीं है, सागर का तल केवल सीपियों और शंखों से भरा है।

गीता-रत्नाकर में गोता लगाने वालों के भी ये तीन प्रकार हैं। एक तो वे हैं जो ऊपर ऊपर तैरते हैं। इनकी दृष्टि सतही होती है। इसलिए ये गीता में राजनीति-शास्त्र का विवेचन देखते हैं। इन्हीं में से कुछ दूसरे लोग गीता को अर्थशास्त्र का प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ मानते हैं और कुछ अन्य लोग युद्ध-शास्त्र को गीता का प्रतिपाद्य विषय मानते हैं। ये सभी के सभी तथाकथित गोताखोर हैं जो वस्तुतः यही नहीं जानते कि गोता लगाना क्या होता है।

दूसरे लोग वे हैं जो गहराई में जाने की कोशिश तो करते हैं पर अपने काम की कोई चीज उसमें नहीं पाते।

वे जड़वादी होते हैं। भौतिकवाद ही उनके जीवन का आधार होता है, इसलिए गीता में उन्हें ऐसा कुछ दिखाई नहीं देता जो उन्हें मदद दे सके। इसलिए गीता को वे कवि-कल्पना कहकर टाल देते हैं।

पर जो तीसरे प्रकार के लोग हैं, वे असली गोताखोर हैं। ये निरन्तर गोता लगाते रहते हैं। श्रीरामकृष्ण देव की भाषा में ये 'असली किसान' हैं। 'नकली किसान' वह है जो शौक के कारण खेती करता है। यदि एक-दो वर्ष अनावृष्टि या अतिवृष्टि से फसल नष्ट हुई तो उसका शौक खत्म हो जाता है और वह किसानी छोड़ देता है। परन्तु असली किसान विषम परिस्थिती में भी खेती का काम नहीं छोड़ता, चाहे लगातार वर्ष पर वर्ष अकाल क्यों न पड़ता रहे। गीता के सन्दर्भ में ऐसे असली गोताखोर निरन्तर गीता-सागर में अवगाहन करते रहते हैं, गोता लगाते रहते हैं, उसका मन्थन करते रहते हैं। सागर के मन्थन से अमृत भी मिलता है और गरल भी। अमृत तब मिलता है जब मन्थन करनेवाला विवेकवती बुद्धि की मथानी लेकर मथता है। ऐसे लोगों को ही गीता-माहात्म्य में 'सुधी' कहा। पिछले प्रवचन में हमने देखा कि ये सुधी लोग ही गीता रूपी दुग्धामृत को पीने के अधिकारी हैं। और, मन्थन से गरल कब मिलता है? जब व्यक्ति विद्वत्ता की अभिलाषा लेकर उसे मथता है। ऐसे लोगों के सम्बन्ध में शंकराचार्य ने 'विवेक-चूड़ामणि' ग्रन्थ में लिखा है (२५)--

वाग्वैश्वरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये ॥

जोरों से बोल-बोलकर प्रवचन करना, शब्दों का प्रवाह बहा देना, शास्त्रों की कुशलतापूर्वक तरह तरह से व्याख्या करना, विद्वत्ता का प्रदर्शन करना——ये सब विद्वानों के उपभोग के लिए है, मुक्ति के लिए नहीं।

तो, जो लोग सुधी हैं, जो गोता लगाते हैं, वे गीता से अमृत प्राप्त करते हैं। वे देखते हैं कि गीता में जो कुछ कहा गया है, वह जीव को लक्ष्य करके कहा गया है। गीता में जीवन के परम पुरुषार्थ को पाने के जो उपाय बताये गये हैं, वे मनुष्य की प्रकृति के कारण, उसके स्वभाव के कारण भिन्न भिन्न हो जाते हैं। हर मनुष्य में तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। एक है विचार की शक्ति, दूसरी है भावना की और तीसरी है क्रिया की। विचार की शक्ति के द्वारा मनुष्य तर्क और चिन्तन करता है। भावना की शक्ति के सहारे वह स्नेह और प्यार करता है और क्रिया की शक्ति के माध्यम से वह कर्म करता है। या यों कह सकते हैं कि विचारशक्ति से वह जानता है, भावनाशक्ति से वह मानता है और क्रियाशक्ति से वह करता है। प्रत्येक व्यक्ति में इन तीनों शक्तियों में से किसी एक की प्रधानता होती है। जिसमें विचारशक्ति प्रधान है वह ज्ञान का पथ चुनता है, जिसमें भावनाशक्ति की प्रधानता है वह प्यार का रास्ता अपनाता है और जिसमें क्रियाशक्ति का बाहुल्य

है उसे कर्म की राह पसन्द आती है। जब हम इन तीनों शक्तियों को ईश्वराभिमुखी कर देते हैं तो पहला व्यक्ति ज्ञानयोगी हो जाता है, दूसरा भक्तियोगी और तीसरा कर्मयोगी। गीता में इन सभी व्यक्तियों के लिए पाथेय है।

यह सब तो ठीक है, पर गीता का वास्तविक प्रयोजन क्या है, यह प्रश्न हमारे सामने बारम्बार आकर खड़ा हो जाता है। मान लिया कि ज्ञानयोग या भक्तियोग या कर्मयोग के सहारे आत्म-साक्षात्कार या भगवान् को पाने की बात गीता में लिखी है, पर किस विशेष उद्देश्य से गीता का गायन हुआ है, इसको समझने की आकांक्षा मनुष्य करता है। और यह बात गीता की भूमिका को देखकर स्पष्ट हो जाती है। अर्जुन युद्ध के लिए तैयार होकर आया था। उसने कौरवों की सेना को देखने की इच्छा की और इस हेतु श्रीकृष्ण से रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर रखने के लिए कहा। ज्योंहि अर्जून कौरवों की सेना को देखता है त्योंहि उसे जाने क्या हो जाता है और वह कहता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। कौरवों की सेना को देखकर कहता है—'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण'—हे कृष्ण! अपने इन स्वजनों को देखकर मेरे अंग शिथिल होते जा रहे हैं। यहाँ पर 'स्वजन' शब्द अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। अर्जुन मानो कौरवों को नहीं देखता बल्कि उनके बदले अपने रिश्तेदारों को देखता है और इसीलिए वह इस ममत्व से उपजे मोह का शिकार हो जाता है। इस मोह के कारण वह उल्टी-सुल्टी

बातें करने लगता है। एक ओर तो वह कौरवों को आततायी कहता है और दूसरी ओर कहता है कि इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही हाथ लगेगा! कैसी विचित्र बात है! अर्जुन मोह से कितना आच्छन्न हो गया है! राजा के कर्तव्य का विधान करते हुए स्मृति में कहा गया है--

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनम् आयान्तं हन्यादेवाविचारयन्।।

—जो भी आततायी के रूप से आया है, उसका बिना किसी हिचक के वध कर देना चाहिए, फिर भले ही वह गुरु हो, एक बालक हो या वृद्ध हो, अथवा बहुत से शास्त्रों का ज्ञाता ब्राह्मण हो।

यहाँ पर राजा से कहा गया है कि आततायी का निर्दयतापूर्वक दमन करना चाहिए। इस ऊहापोह में नहीं पड़ना चाहिए कि 'अरे, वह तो छोटा सा बालक है; भले ही उसने आततायी का काम किया हो पर उसकी हल्की उम्र देखकर उसे क्षमा कर देना चाहिए।' या ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि 'वह तो वृद्ध है-- अपने काल से स्वयं ही मरनेवाला है। मैं उसे व्यर्थ में मारकर क्यों अपना हाथ कलंकित करूँ?' अथवा, ऐसा भी नहीं विचार करना चाहिए कि 'वह तो पूज्य गुरु है, या शास्त्रज्ञ ब्राह्मण है; उसे कैसे मारूँ?' इस हिच-किचाहट को दूर कर, आततायी का वध करना ही राजा के लिए कर्तव्य निश्चित किया गया है। तो क्या अर्जुन

इस विधान को नहीं जानता था? वह राजा था, अतः अपने कर्तव्यों से भलीभाँति परिचित था। जब वह कौरवों को आततायी कहकर पुकार रहा है तब यह भी निश्चित रूप से जानता है कि आततायी का दमन करना ही राजा का कर्तव्य है। तब फिर अर्जुन क्यों कहता है कि आततायियों को मारकर पाप ही हाथ लगेगा? क्या वह कौरवों को झूठ-मूठ का आतयायी मानता है? आततायी किसे कहते हैं? स्मृति का वचन है--

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदाराहरश्चैव षडेते आततायिनः ।।

--आग लगानेवाला, जहर देनेवाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारनेवाला, धन को लूट लेनेवाला, जमीन पर जबरदस्ती कब्जा कर लेनेवाला और पत्नी का अपहरण करनेवाला--ये छः प्रकार के आततायी हैं।

यहाँ आततायी के छः लक्षण बतलाये गये। जिस किसी व्यक्ति में इन छः लक्षणों में से एक भी लक्षण विद्यमान है, वही आततायी है। अब कौरवों पर ये लक्षण घटाकर देखें और विचार करें कि उनमें कितने लक्षण हैं आततायियों के। जब पाण्डवगण लाक्षागृह में निवास कर रहे थे तो दुर्योधन ने उनको मार डालने की नीयत से लाक्षागृह में आग लगवा दी थी। तो पहला लक्षण कौरवों में मौजूद है। भीम को जहर देकर नदी के जल में फेंक ही दिया था, तो दूसरा लक्षण भी उन पर घटा। जब पाण्डव

बनवासी थे तब दुर्योधन ने पाण्डवों को खत्म कर देने के लिए अपने शस्त्रधारी अनुचर उनके पीछे लगा रखे थे। तो तीसरा लक्षण भी कौरवों में मिलता है। पाण्डवों का धन कौरवों ने छल-कौशल से लूट ही लिया था। उनकी जमीन पर जबरदस्ती कब्जा कर ही लिया था। वे पाण्डवों को उनका उचित हक भी नहीं देना चाहते थे। इस प्रकार कौरवों में आततायी के चौथे और पाँचवे लक्षण भी मिल जाते हैं। और अन्त में, कौरवों ने जयद्रथ के माध्यम से द्रौपदी का हरण करवाया, तो इस प्रकार छठा लक्षण भी उन पर घट जाता है। तात्पर्य यह कि कौरवों में आततायी के एक या दो लक्षण नहीं, सभी के सभी छः लक्षण विद्यमान हैं। फिर भी अर्जुन कहता है (१।३६)--

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतान् आततायिनः ।।

—हे जनार्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आततायिकों मारकर तो हमें पाप ही लगेगा !

यह अर्जुन नहीं बोल रहा है, अर्जुन का मोह बोल रहा है। अर्जुन इतना मोहितचित्त हो गया है कि उसका विवेक पूरी तरह दब गया है और संक्रान्ति के इस क्षण में वह मानो न्यूरोसिस का शिकार हो जाता है। मनुष्य के मन की छिपी हुई आसक्तियाँ ऐसे ही मौके की तलाश में रहती हैं और अवसर प्राप्त होते ही उस पर

अचानक टूट पड़ती हैं। तब उस व्यक्ति की क्या अवस्था होती है? वही, जो अर्जुन की हुई। अर्जुन की अवस्था गीता के शब्दों में सुनिये (१।२८-३२)--

कृपया परयाविष्ठो विषीदन्निदमब्रवीत्।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥
न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥

--अत्यन्त करूणा के वश हो अर्जुन विषाद करते हुए ऐसा बोला, 'हे कृष्ण! युद्ध की इच्छा से यहाँ खड़े हुए स्वजनों को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं, मुँह भी सूखा जाता है, मेरा शरीर कम्पित हो रहा है और घबड़ाहट से मेरे रोंगटे खड़े हुए जा रहे हैं। हाथ से गाण्डीव फिसला जा रहा है और मेरी त्वचा जल रही है। मेरा दिमाग चक्कर खा रहा है और मैं खड़े रहने में भी समर्थ नहीं हूँ। फिर हे केशव! मुझे तो सारे शकुन भी विपरीत ही दिखते हैं। युद्ध में अपने कुल को मारकर मैं कोई कल्याण नहीं देखता। हे कृष्ण! मुझे विजय नहीं चाहिए। मैं राज्य की आकांक्षा नहीं

करता। मैं सुखों की भी इच्छा नहीं करता। हे गोविन्द हमें राज्य से क्या लेना-देना है? हमें भोगों को लेकर क्या करना है? जीवन से भी हमें क्या प्रयोजन है?'

जरा सोचिए तो, यह गाण्ड़ीवधारी अर्जुन की कैसी दुर्दशा है! जैसा मैंने ऊपर कहा, अर्जुन न्यूरोसिस का शिकार हो गया है। इस परीक्षा की घड़ी में उसके भीतर के जन्म-जन्मान्तर के छिपे संस्कार अचानक उस पर धावा बोल देते हैं और वह मायूस हो जाता है। उसकी आँखो में अँधेरा छा जाता है और उसका कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान लुप्त हो जाता है।

हम पर भी ऐसे प्रसंगो में ऐसी ही बीता करती है। तब हमारा भी मन मोह और प्रमाद से घिर जाता है, बुद्धि सम्मोहित हो जाती है और दिशाएँ हमारे लिए घटाटोप अन्धकार से भर जाती हैं। हम अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं। यही मोह की अवस्था है। यह मोह सब कुछ भुला देता है। अर्जुन इसी व्यामोह से आक्रान्त हुआ था। और भगवान् कृष्ण गीता के माध्यम से इसी मोह को दूर करने का प्रयास करते हैं। तभी तो उन्होंने अन्त अन्त में अर्जुन से पूछा (१८।७२)--

कश्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कश्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ।।

--हे पार्थ! क्या तूने मेरी बात एकाग्र चित्त से सुनी? हे धनंजय! क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ?

अर्जुन इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहता है (१८।७३)—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।।

—हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हुआ है, और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है। अब मैं संशयरहित हो गया हूँ और मेरी बुद्धि स्थिर हो गयी है। मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

यहाँ पर हम देखते हैं कि अर्जुन का मोह नष्ट हुआ है। मोह के दूर होने से अर्जुन को स्मृति प्राप्त हुई है। इसका तात्पर्य यह हैं कि मोह जब चित्त में घुसता है तब सर्वप्रथम हमारी स्मृति को ढक लेता है। हम भले और बुरे, उचित और अनुचित, कर्तव्य और अकर्तव्य का भेद भूल जाते हैं, अतः जीवन के द्वन्द्वों के शिकार होते हैं। श्रीभगवान् गीता के माध्यम से इस मोह को ही दूर करना चाहते हैं ताकि अर्जुन अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाय और जान ले कि उसका कर्तव्य क्या है।

तो, हम कह रहे थे कि मोह का निरसन ही गीता का प्रयोजन है। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि की बातें भी गीता में हैं, पर इन सब योगों की सार्थकता भी मोह के दूर करने में ही है। मोह-नाश गीता का मूल स्वर है। जैसे शहनाई के वादन में एक मूल स्वर बजता है और उस मूल स्वर को आश्रित करके भिन्न भिन्न प्रकार की स्वर-लहरियाँ उत्पन्न की जाती हैं, उसी प्रकार मोह-नाश रूपी मूल स्वर को आश्रित करके

विभिन्न योगों की चर्चा गीता में की गयी है।

हमने पहले कहा कि मोह-नाश से हमारी स्मृति लौट आती है और हम संशय-रहित होकर निरूद्विग्न हो जाते हैं, हमारा मन शान्त हो जाता है। मानव इस शान्ति की ही तो अथक खोज कर रहा है। उसकी समस्त क्रियाओं के पीछे इसी शान्ति का अनुशीलन है। मनुष्य शान्ति पाने की कामना करता हुआ ही अर्थोपार्जन करता है, परिवार का विस्तार करता है, पूजा-पाठ और अध्ययन-स्वाध्याय करता है। पर खेद है कि शान्ति उससे दूर ही रहती है। और मनुष्य भ्रमित हो जाता है। कुछ सोच नहीं पाता कि क्या करने से उसे शान्ति मिलेगी। वह विचार करता है कि सम्भवतः परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने से उसे सुख मिलेगा, स्थान के बदल जाने से उसे शान्ति मिलेगी। ठीक यही दशा अर्जुन की हुई थी। वह सोचता है कि युद्ध एक घोर कर्म है। वह विचार करता है कि इस युद्ध को छोड़कर जंगल चले जाने से उसे शान्ति मिलेगी। इसलिए वह श्रीकृष्ण के सन्मुख वैराग्य और ज्ञान की बातें करता है। साथ ही तर्क द्वारा अपने कथन की पुष्टि भी करता जाता है। कहता है कि युद्ध से कुल का नाश होगा, कुल के नाश से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जायेंगे और धर्म का नाश होने पर समस्त कुल को पाप दबोच लेगा। पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जायेंगी और हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न हो

जायेगा । वर्णसंकर तो कुलघातियों को और कुल को नरक में ही ले जानेवाला साबित होगा । तब तो पिण्ड और तर्पण आदि की क्रियाएँ लुप्त हो जायेंगी और फल-स्वरूप इनके पितरलोग भी गिर जायेंगे । (१।४०-४२)–

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम् अधर्मोऽभिभवत्युत ॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥

यहाँ पर अर्जुन का ज्ञान दर्शनीय है । इससे विदित होता है कि अर्जुन कुल-नाश के दोषों का ज्ञाता है । वह पुनः कहता है (१।४३-४४)—

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥

—वर्णसंकर को उत्पन्न करनेवाले इन दोषों से कुलघातियों के सनातन जातिधर्म और कुलधर्म समस्त विनष्ट हो जाते हैं, हे जनार्दन ! हमने सुना है कि जिन मनुष्यों का कुलधर्म नष्ट हो गया है वे अनन्तकाल तक नरक में वास करते हैं । अतएव (१।३८-३९)—

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ।।

—भले ही ये कौरवगण लोभ से भ्रष्टचित्त होने के कारण कुल-नाश से होनेवाले दोष को तथा मित्रों के साथ विरोध करने में पाप को नहीं देख पा रहे हैं, परन्तु हे जनार्दन! हम लोग जो कुल-नाश के दोष को जानते हैं, क्यों न इस पाप से हटने के लिए विचार करें?

और अन्त में अपने वचनों का उपसंहार करते हुए अर्जुन अपनी अत्यन्त दयनीयता को प्रकट करते हुए कहता है (१।४५-४६)—

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ।।
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ।।

—अहो! शोक है कि हम लोग बुद्धिमान होकर भी महान् पाप करने को तैयार हुए हैं, जो कि राज्य और सुख के लोभ से अपने कुल को मारने के लिए उद्यत हुए हैं। यदि मुझे शस्त्ररहित, न सामना करनेवाले को शस्त्रधारी धृतराष्ट के पुत्र रण में मारे तो वह मारना भी मेरे लिए अति कल्याणकारक होगा।

ऐसा कहकर अर्जुन ने धनुष्यबाण त्याग दिया और रथ के पीछले भाग में शोकमग्न होकर बैठ गया। इसी को हमने पहले कहा है—confusion of values अर्जुन का चित्त मोहाविष्ट है, इसलिए उसका सोचना और

क्रियाएँ करना——ये सभी उलटे हो रहे हैं। उसे कर्तव्य की दृष्टि से युद्ध करना चाहिए, पर वह युद्ध छोड़कर जंगल जाना चाहता है ! जब कौरवों को वह आततायी मानता है तो उसे उनका प्रतीकार करना चाहिए, पर कहता है कि आततायियों को मारकर पाप हाथ लगेगा ! युद्ध से कुल नाश और तत्पश्चात् पितरों के पतित होने की बात करता है, यह जानकर भी कि युद्ध करना तो क्षत्रिय का स्वधर्म है। फिर, अर्जुन यह भी जानता है कि वह लोभ और सुख की आकांक्षा से परिचालित होकर युद्ध नहीं कर रहा है, वह जानता है कि पाण्डव अपना न्यायपूर्ण अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं। वह जानता है कि दुर्योधन युद्ध के बिना सुई की नोंक बराबर भी जमीन पाण्डवों को नहीं देना चाहता। इसके बावजूद वह कहता है कि हम लोभ और राज्य-सुख के लिए कुल का नाश करने के लिए खड़े हैं !

यही मोह को विचित्रता है। मोह से घिरकर ही अर्जुन सोचता है कि शान्ति मुझे यहाँ नहीं मिलनेवाली है। वह जंगल जाने का विचार करता है। वह समझता है कि स्थान के परिवर्तन से उसका अवसाद दूर हो जायेगा। तब कृष्ण अर्जुन को रोकते हैं जंगल जाने से। वे अर्जुन की करूणा को देखकर विचलित नहीं होते, न ही वे प्रभावित होते हैं। वे भाँप लेते हैं कि अर्जुन विकार-रोग का शिकार हो गया है, इसीलिए अण्ड-बण्ड बक रहा है। यदि अर्जुन के शब्दों को सन्दर्भ से अलग हटा-

कर विचार के लिए लें तो उनमें कोई बेतुकापन नहीं मालूम पड़ेगा, बल्कि लगेगा कि बात तो ठीक ही है। परन्तु जब हम वस्तुस्थिति का सामना करते हैं और तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में अर्जुन के शब्दों पर विचार करते हैं तो सचमुच अर्जुन की बातें बेतुकी ही मालूम पड़ती हैं। श्रीकृष्ण तो मनोवैज्ञानिक हैं, वे अर्जुन की कमजोरी को भाँप लेते हैं। वे अर्जुन को उचित औषध प्रदान करते हैं और उसे युद्ध का त्याग करने से मना करते हैं।

तो, गीता का अभिप्राय यह है कि बाहरी कारणों में, बाहरी परिस्थितियों में परिवर्तन मात्र करने से मनुष्य को शान्ति नहीं मिला करती। परिवर्तन तो हमें भीतर में, आभ्यन्तर में करना पड़ेगा। मनुष्य को अपने मन में परिवर्तन लाना होगा, उसे अपनी दृष्टि बदलनी होगी। तभी वह शान्ति का अधिकारी हो सकता है। स्थान या परिस्थितियों में परिवर्तन करने मात्र से हमारे संस्कार परिवर्तित नहीं हो जाते। किसी निभृत गिरि-गुफा में जाकर बैठ जाने मात्र से हमारे मन के संस्कार नष्ट नहीं हो जाते। हम जहाँ भी जायेंगे, हमारा मन भी हमारे साथ जायेगा। बाहर के संसार का त्याग भले ही हम कर दें, पर भीतर का संसार तो हमारे अन्दर सदा-सर्वदा बना ही हुआ है। इसीलिए हम जंगल में जाकर अपना एक नया संसार खड़ा कर लेते हैं। जंगल में जाना कोई बुरी बात नहीं, वहाँ जाकर तपस्या और साधना करना

गलत बात नहीं, पर प्रश्न यह है कि क्या हम जंगल जाने के अधिकारी हैं? क्या हम जंगल जाकर साधना में समय बिता सकेंगे? हम वन में कहीं एक नया संसार तो निर्मित न कर लेंगे?

श्रीकृष्ण ने जंगल जाने की बात को बुरा नहीं कहा। अर्जुन ने कुल-नाश से होनेवाले जो दोष गिनाये, उनको श्रीकृष्ण ने नहीं काटा। इसका तात्पर्य यह है कि सिद्धान्त की दृष्टि से अर्जुन कोई गलत बात नहीं कह रहा था, पर उस सिद्धान्त का जैसा व्यवहार जीवन में होना चाहिए, अर्जुन उसमें भूल कर रहा था। सिद्धान्त तो अच्छे ही होते हैं। बुराई उनके कार्यान्वयन की भूल से पैदा होती है। बुद्धिमान् व्यक्ति वह है जो इस भूल को पहचान लेता है। अर्जुन अपनी इस भूल को पहचान ले इसी उद्देश्य से भगवान् श्रीकृष्ण उससे कहते हैं—'प्रज्ञावादांश्च भाषसे'—तू पण्डितों के-से वचन कहता है। मतलब, तू व्यवहार में पण्डित के-से आचरण तो नहीं करता, केवल शब्दों में पण्डित बन रहा है।

इस सबकी समस्या भी यही है। हम अपने को पण्डित दर्शाते हैं पर जब अपने मन के दर्पण में अपनी तस्वीर देखते हैं तो वहाँ पाण्डित्य की बू तक नहीं दिखती। यही हमारी अशान्ति का कारण है। जब तक हम अपने इस दोष को पकड़ नहीं लेंगे तब तक कोई वनस्थली हमें शान्ति न दे सकेगी, कोई गुफा हमारी मानसिक हलचल को शान्त न कर सकेगी, कोई तीर्थ हमारे विक्षोभ को धो

न सकेगा । श्रीरामकृष्ण देव इसी को 'मन और मुख का भेद' कहते हैं। वे बारम्बार कहा करते थे---'कलियुग की सबसे बडी साधना है मन और मुख को एक करना।' आधुनिक समाज मन और मुख के भेद से आक्रान्त है। मन और मुख का यह विभेद ही मानसिक द्वन्द्वों की सृष्टि करता है। अर्जुन इसी मानव का प्रतिनिधित्व कर रहा हैं। तभी तो श्रीकृष्ण उसकी बातों को प्रज्ञावाद की संज्ञा देते है। वे अर्जुन को उसकी भूल पकड़ा देना चाहते हैं। भूल को दूर करने का एकमात्र उपाय है पहले उसे पकड़ लेना। जो सचमुच नींद में है, उसे जगाना आसान है; पर जो सोने का ढोंग कर रहा है उसे उठाना कठिन है। अधिकांशतः हम सोने का ढोंग करते हैं, इसलिए हमारे लिए उठना मुश्किल हो जाता है। हमें अपने चरित्र के इस दोष को निकालना है। अर्जुन के चरित्र में यही दोष आ गया था और भगवान् श्रीकृष्ण उसके इस दोष को निकालने के लिए गीता का उपदेश करते हैं। अगली चर्चाओं में हम देखेंगे कि कैसे अर्जुन अपने इस दोष को पकड़ने में समर्थ होता है और उसे दूर कर शान्ति का अधिकारी बनता है।

(क्रमशः)

धर्म वह वस्तु है, जिससे पशु मनुष्य तक और मनुष्य परमात्मा तक उठ सकता है।

---स्वामी विवेकानन्द

योग की वैज्ञानिकता—४

डा. अशोक कुमार बोरदिया

११

गत लेख में हमने पातंजल-योगसूत्र में वर्णित चित्तवृत्तियों के वर्गीकरण का अवलोकन किया था। हमने कहा था कि यह विभाजन पाश्चात्य मनोविज्ञान के चित्तवृत्तियों के विभाजन से कुछ बातों में भिन्न है। प्रथम तो यह कि जहाँ योग-मनोविज्ञान में प्रमाणादि पाँच वृत्तियाँ बतलायी गयी हैं, वहाँ आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार समस्त मनोव्यापार ज्ञानात्मक, भावनात्मक और क्रियात्मक, ऐसे तीन प्रकार के होते हैं। जो दूसरा अन्तर इन दो प्रणालियों के बीच है, वह यह है कि पातंजल-योगसूत्र में उपर्युक्त पाँचों प्रकार की चित्तवृत्तियों को क्लिष्ट अथवा अक्लिष्ट इन दो श्रेणियों में बाँटा गया है। पर ऐसा कोई विभाजन पाश्चात्य मनोविज्ञान में नहीं है। इस भेद का कारण मनोविज्ञान की इन दो प्रणालियों के बीच का मौलिक अन्तर है, जिसे समझ लेना उपयोगी होगा।

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता रही है कि प्राचीन काल से भारत में विकसित समस्त शास्त्रों एवं विज्ञानों का एक सामान्य लक्ष्य रहा है, और वह है ईश्वर-प्राप्ति या आत्म-साक्षात्कार। उदाहरण के लिये, आयुर्वेद को ही ले लीजिये। औषधि-विज्ञान के साथ ही साथ उसमें

हम आध्यात्मिकता की स्पष्ट झलक भी पाते हैं। यही कारण है कि भारतीय मनोविज्ञान को मनोविज्ञान की संज्ञा न देकर योग (आत्मा-परमात्मा का मिलन) शास्त्र का नाम दिया गया है। तात्पर्य यह कि पातंजल-योगशास्त्र हमारे सम्मुख केवल मानव-मन का विश्लेषण प्रस्तुत करके ही नहीं रह जाता, अपितु जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करने की एक मनोवैज्ञानिक पद्धति भी सुझाता है। अतः इसमें चित्त-वृत्ति-निरोध रूपी चरम लक्ष्य की प्राप्ति में उपस्थित होनेवाली मानसिक बाधाओं एवं उन्हें दूर करने के उपायों का विस्तृत वर्णन है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान के दो भाग हैं। पहला शुद्ध मनोविज्ञान (Pure Psychology) और दूसरा व्याव-हारिक मनोविज्ञान (Applied Psychology)। शुद्ध मनोविज्ञान मानव-मन का किसी भी पूर्वाग्रह---जैसा कि योग-मनोविज्ञान में है---के बिना अध्ययन करता है। उदाहरण के लिये, जब वह भावनाओं का अध्ययन करता है तब करुणा, प्रेम, दया और काम, क्रोध, ईर्ष्या आदि विपरीत भावनाओं को एक ही धरातल से, एक ही आधार से देखता है। इनका सामाजिक एवं व्याव-हारिक महत्त्व अवश्य है किन्तु शुद्ध मनोविज्ञान की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है। यही कारण है कि पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार चोर, डाकू, अनैतिक व्यक्ति तथा सन्त, दार्शनिक और महान् विचारक दोनों

ही प्रकार के लोग "असामान्य व्यक्तित्व" (Psychopathic personalities) के अन्तर्गत आते हैं। जहाँ तक व्यावहारिक मनोविज्ञान का प्रश्न है उसका भी लक्ष्य मूलतः व्यक्ति को समाज में अधिक सुखी एवं उपयोगी बनाना है। मोक्ष अथवा ईश्वर-प्राप्ति जैसा कोई लक्ष्य उसके सम्मुख नहीं है।

१२

पतंजलि के अनुसार चित्तवृत्तियाँ क्लिष्ट अर्थात् कष्टप्रद और अक्लिष्ट अर्थात् सुखप्रद होती हैं। क्लिष्ट वृत्ति वह नहीं है जो बाह्य दृष्टि से अथवा प्रारम्भ में कष्टदायक हो, किन्तु वह है जो अन्तिम परिणाम में साधक को संसार-चक्र में अधिकाधिक फँसाये और योग के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक सिद्ध हो। इसके विपरीत, जिन वृत्तियों के द्वारा चित्त-वृत्ति-निरोध में सहायता मिलती है, जो कर्म-बन्धनों को क्षीण करती हैं तथा माया के आवरण को दूर करने में मदद देती है, वे वृत्तियाँ अक्लिष्ट कही गयी हैं। काम, लोभ, मोह, इन्द्रिय-सुख एवं विषय-भोग से प्रेरित अथवा इन्हें जन्म देनेवाली वृत्तियाँ भले ही प्रारम्भ में आनन्ददायक प्रतीत हों, किन्तु अन्ततोगत्वा गहरे अज्ञान का कारण बनती है। इसीलिये इन्हें क्लिष्ट कहा गया है। त्याग, संयम, निःस्वार्थता, करुणा आदि से सम्बन्धित वृत्तियों की प्रारम्भिक प्रतिक्रिया भले ही कष्टप्रद क्यों न हो, किन्तु अन्ततः वे मानव का महान् कल्याण करती हैं। अतः

उन्हें अक्लिष्ट कहा गया है ।

योगशास्त्र इन दोनों प्रकार की वृत्तियों के निरोध का निर्देश करता है । काम-क्रोधादि अशुभ वृत्तियों के निरोध की बात तो आसानी से समझ में आ जाती है, किन्तु क्या शुभ वृत्तियों का भी निरोध श्रेयस्कर है ? उत्तर यह है कि सभी प्रकार की वृत्तियों के निरोध के बिना योग का चरम लक्ष्य---निर्विकल्प समाधि, जहाँ सभी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं---प्राप्त नहीं किया जा सकता। स्वामी विवेकानन्द क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों को क्रमशः लोहे की तथा सोने की जंजीर की उपमा देते हैं। भले ही दूसरी जंजीर सोने की क्यों न हो, वह बाँधने में कम सक्षम नहीं है । ऐसे कई सदाचारी, सत्यवादी एवं सेवाभावी व्यक्ति समाज में देखे जाते हैं जो सेवाकार्यों में इतने गहरे डूब जाते हैं कि उन्हें उन सेवादि कार्यों के अतिरिक्त आत्म-चिन्तन या ईश्वर-चिन्तन का अवसर ही नहीं मिलता। इसीलिये वे भी मानसिक अशान्ति का अनुभव करते हैं और चिन्ताग्रस्त बने रहते हैं। उनके लिये सेवाकार्य से सम्बन्धित अक्लिष्ट वृत्तियाँ कठोर बन्धन का रूप धारण कर लेती हैं।

यहाँ पर इस विषय का व्यावहारिक पहलू समझ लेना आवश्यक है। शुद्ध वृत्तियों के निरोध की बात सैद्धान्तिक रूप से सत्य तो है, किन्तु सामान्यतः साधक को इन्हीं का प्रश्रय लेकर आगे बढ़ना पड़ता है। श्रीराम-

कृष्ण शुभ और अशुभ वृत्तियों को क्रमशः विद्या और अविद्या माया कहा करते थे। उनकी भाषा में, विद्या-रूपी काँटे से पैर में गड़े अविद्यारूपी काँटे को निकालने के बाद दोनों काँटों को फेंक देना चाहिये। केवल साधना की प्रारम्भिक अवस्था में ही नहीं, वरन् अन्त तक साधक को प्रयत्नपूर्वक अक्लिष्ट वृत्तियों और शुभ विचारों को अपने मन में बार बार उठाना पड़ता है। इसके बिना चित्त में गहरे पैठे हुए अशुभ संस्कारों का क्षय नहीं हो पाता। यदि साधक इन शुभ विचारों और कार्यों से अनासक्त रहे, उन्हें ईश्वर-समर्पित करता रहे तथा सतर्क बना रहे, तो वे उसके लिये बन्धन सिद्ध नहीं होंगे। इस प्रकार जब साधक अपने मन को पूर्णतः शुद्ध करने में समर्थ हो जाता है, तब इन शुभ वृत्तियों का निरोध उसे प्रयत्नपूर्वक नहीं करना पड़ता बल्कि वे स्वयं शान्त हो जाती हैं और वह उनके ऊपर उठकर निर्विकल्प समाधि को प्राप्त कर लेता है।

१३

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति, ये पाँचों प्रकार की वृत्तियाँ क्लिष्ट अथवा अक्लिष्ट हो सकती हैं। प्रमाण का अर्थ है यथार्थ अथवा सत्यज्ञान। जब चित्त में उत्पन्न ज्ञानात्मक वृत्ति ज्ञेय विषय के अनुरूप हो, तब उसे प्रमाण कहा जायेगा। प्रमाण-वृत्ति भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों होती है। अश्लील चित्र देखना, उत्तेजक वार्ता सुनना अथवा कुसंग करना इन सबसे

विषय के सम्बन्ध में चित्त में जिस वृत्ति का उदय होगा, वह सत्य होने पर भी काम-क्रोधादि से प्रेरित होगी। ऐसी वृत्तियाँ क्लिष्ट प्रमाण-वृत्तियाँ कहलायेंगी जिनका त्याग कर देना चाहिये। स्वस्थ साहित्य का पठन, सन्त-महापुरुषों की वाणी का श्रवण एवं तीर्थादि का दर्शन, यह सब क्रियाएँ उपर्युक्त क्लिष्ट प्रमाण-वृत्तियों का नाश कर अक्लिष्ट प्रमाण-वृत्तियों का सृजन करती हैं, जो योग में सहायक होती हैं।

दूसरी वृत्ति विपर्यय है जिसका अर्थ होता है मिथ्या ज्ञान अथवा भ्रम। जब चित्त में उत्पन्न वृत्ति ज्ञेय विषय के वास्तविक स्वरूप के अनुरूप न हो तब उसे विपर्यय कहा जायेगा। रस्सी के स्थान पर सर्प देखना और पानी के नितान्त अभाव में रेगिस्तान में पानी दिखायी देना विपर्यय के उदाहरण हैं। ऊपरी दृष्टि से तो यही प्रतीत होता है कि समस्त विपर्यय क्लिष्ट अथवा दुःखदायी ही हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं है। भ्रम भी अक्लिष्ट हो सकते हैं तथा ईश्वर-प्राप्ति में सहायक बन सकते हैं। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट होजायेगी। कल्पना कीजिये कि अँधेरी रात को एक सुनसान मैदान के बीच सूखे पेड़ का ठूँठ खड़ा है। एक चोर भागता हुआ आता है और उसे पुलिस समझ बैठता है। एक डरपोक व्यक्ति सम्भवतः उस ठूँठ को भूत समझकर भयाक्रान्त हो जाता है। शायद अपनी प्रेयसी से मिलने के लिये आतुर एक प्रेमी उसे

अपनी प्रेयसी समझ लेता है, और यह भी तो सम्भव है कि हरि-कीर्तन के बाद घर लौटता हुआ एक भक्त उस निर्जीव लकड़ी के टुकड़े को अपना आराध्य श्यामसुन्दर समझकर गद्‌गद् हो उठे। इन चारों व्यक्तियों के चित्त में उत्पन्न भिन्न भिन्न वृत्तियों का विश्लेषण करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रथम तीन व्यक्तियों में भय और वासना सम्बन्धित विपर्यय-वृत्ति का उदय हुआ, जो योग के अनुकूल नहीं है। इसके विपरीत, भक्त के मन में भक्ति से प्रभावित विपर्यय पैदा हुआ जो आध्यात्मिक दृष्टि से सहायक है। अतः यह अक्लिष्ट-विपर्यय कहलायेगा और अन्य तीनों को क्लिष्ट-विपर्यय की संज्ञा दी जायेगी। प्रत्येक व्यक्ति विपर्यय का शिकार होता है, किन्तु हमें चाहिये कि प्रयत्नपूर्वक क्लिष्ट-विपर्ययों को दूर करें तथा अक्लिष्ट विपर्ययों को उदित होने दें।

विकल्प अर्थात् कल्पना और स्मृति भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट हो सकती हैं। सामान्यतः हम भूतकाल की भोग-सम्बन्धित स्मृतियों में डूबे रहते हैं। अथवा भविष्य में विषय-भोगों का सेवन किस प्रकार किया जाये इस कल्पना में अपना समय जाया करते हैं। अधिकांशतः हम काम, क्रोध, भोग, अहंकार आदि से सम्बद्ध बातों का ही चिन्तन करते रहते हैं। यह हम समझ नहीं पाते कि इस प्रकार की क्लिष्ट कल्पनाएँ कितनी हानिकारक हैं। इसके विपरीत, हममें कुछ ज्ञानवान् पुरुष

ऐसे भी हैं, जो विवेक, वैराग्य एवं ईश्वर सम्बन्धी पूर्व घटनाओं, वार्तालापों एवं भूतकाल के अनुभवों का स्मरण करते हैं। उनकी कल्पनाएँ एवं योजनाएँ भी सत्संग और तीर्थाटन इत्यादि के बारे में होती हैं। वैसा देखें तो आध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ भी कल्पना से होता है। साधक को ईश्वर के किसी कल्पित रूप का ध्यान और चिन्तन करना पड़ता है। इस प्रकार के अक्लिष्ट विकल्प और अक्लिष्ट स्मृतियाँ योग-साधन का उपयोगी अंग बन जाती हैं।

निद्रा पाँचवीं और अन्तिम वृत्ति है। क्या यह भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट हो सकती है? हाँ। निद्रा एक शारीरिक आवश्यकता (physiological necessity) है, जिसका अनुकूलतम (optimum) समय भिन्न भिन्न लोगों के लिये भिन्न भिन्न होता है। निश्चित समय तक शरीर को विश्राम देने से शरीर और मन दोनों ही अपनी थकान को त्यागकर स्वस्थता का अनुभव करते हैं। आवश्यकता से अधिक सोनेवाला व्यक्ति जाग्रतावस्था में भी आलस्य का अनुभव करेगा और उसका मन एकाग्र नहीं हो पायेगा। इसी प्रकार, बहुत कम सोने पर शरीर क्लान्त बना रहेगा जिसके कारण योग-साधन में विघ्न उपस्थित होगा। अतः इस प्रकार की निद्रा जिससे योगाभ्यास में व्यवधान उपस्थित हो, क्लिष्ट निद्रा कहलायेगी। इसके विपरीत, सन्तुलित निद्रा योग के लिये आवश्यक है।

इसके साथ स्वप्न का विषय भी जुड़ा हुआ है। कुछ लोग स्वप्न में धार्मिक जीवन सम्बन्धी मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं। साधु-महात्माओं और महापुरुषों से सम्बन्धित स्वप्न साधक के चित्त में उल्लास और स्फूर्ति का संचार कर देते हैं। ये अक्लिष्ट स्वप्न हैं। दूसरी ओर, हम ऐसे भी स्वप्न प्रायः देखते हैं जो भय, क्रोध, चिन्ता आदि के कारण उत्पन्न होते हैं अथवा उन्हें उत्पन्न करनेवाले होते हैं। ये क्लिष्ट स्वप्न कहलायेंगे।

प्रस्तुत लेख में हमने क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों का विवेचन किया है। जैसे जैसे हम साधना-पथ पर अग्रसर होते हैं, वैसे वैसे हमारी समस्त वृत्तियों में सुधार होता जाता है और प्रमाणादि सभी वृत्तियाँ जो प्रारम्भ में कष्टप्रद थीं, धीरे धीरे सुखदायक एवं योग में सहायक बनती जाती हैं। आगामी लेखों में प्रमाणादि प्रत्येक वृत्ति का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जायेगा।

दुनिया तभी पवित्र और अच्छी हो सकती है, जब हम स्वयं पवित्र और अच्छे हों। वह है कार्य और हम हैं उसके कारण। इसलिये आओ, हम अपने आपको पवित्र बना लें! आओ, हम अपने आपको पूर्ण बना लें।

——स्वामी विवेकानन्द

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

१. पुरुषार्थ की महत्ता

एक बार भगवान् महावीर ने सकडाल-पुत्र से कहा, "मनुष्य का उत्थान पुरुषार्थ तथा पराक्रम से सिद्ध होता है।" किन्तु सकडाल-पुत्र ने इस कथन से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कहा कि वास्तव में उत्थान आदि जिस समय सिद्ध होनेवाला हो, तभी हो जाता है; जो होनहार है, वह होता ही है; उस पर पुरुषार्थ अथवा बल का कोई असर नहीं पड़ता। तब महावीर ने मिट्टी के बर्तनों की ओर इशारा करके सकडाल-पुत्र से प्रश्न किया, "ये मिट्टी के बर्तन किस तरह बने हैं?"

सकडाल-पुत्र (कुम्भकार) ने उन बर्तनों के बनाने का क्रम बताते हुए एक बर्तन की कृति भी बता दी। इस पर भगवान बोले कि वे बर्तन उत्थान द्वारा ही बने हैं न? सकडाल-पुत्र ने पुन: असहमति व्यक्त कर होन-हार की दुहाई दी। तब भगवान् ने प्रश्न किया, "यदि तुम्हारे बर्तनों पर किसी लकड़ी से किसी व्यक्ति ने प्रहार किया, तो तुम क्या करोगे?"

सकडाल-पुत्र ने उत्तर दिया, "मैं उसके हाथ-पैर तोड़ दूंगा।" भगवान बोले, "तुम क्यों उसके हाथ-पैर तोड़ोगे? तुम्हें क्या यह न मान लेना चाहिए कि यह होनहार था, इसीलिए लकड़ी के संयोग से बर्तन टूट गये?"

इस पर सकडाल-पुत्र सोचने लगा। भगवान् फिर दूसरा उदाहरण देते हुए बोले, "हे सकडाल-पुत्र, कल्पना करो कि तुम्हारी पत्नी सिंगार करके बाहर निकली हो और कोई पुरुष उस पर बलात्कार करना चाहे, तो तुम क्या करोगे?"

सकडाल-पुत्र ने तपाक् से आवेशपूर्ण शब्दों में कहा, "मैं ऐसे दुष्ट पुरुष के नाक-कान काट डालूँगा। यहाँ तक कि उसे प्राण-दण्ड दिलाने का भी प्रयत्न करूँगा।" भगवान् बोले, "क्या इसे होनहार न मानोगे? तुम्हारा मत तो यही कहता है।"

और उस कुम्भकार को पुरुषार्थ के महत्त्व का बोध हो गया। भगवान् ने तब उसे श्रावक बनाकर संसार के सामने आदर्श उपस्थित करने का उपदेश दिया।

२. अस्पृश्य कौन?

भगवान् गौतम बुद्ध अपने शिष्यों सहित सभा में विराजमान थे। शिष्यगण उनकी स्थिरता देखकर चिन्तित हुए कि कहीं वे अस्वस्थ तो नहीं हैं? एक चिन्तातुर शिष्य बोल उठा, "भगवन्, आप आज इस प्रकार मौन क्यों हैं? क्या हमसे कोई अपराध हुआ है?" इतने में एक अन्य अधीर शिष्य ने पूछा, "प्रभो, क्या आप आज अस्वस्थ हैं?" भगवान् फिर भी मौन ही रहे। तभी बाहर खड़ा कोई व्यक्ति जोर से बोला, "आज मुझे सभा में बैठने की अनुमति क्यों प्रदान नहीं की गयी?" बुद्धदेव नेत्र बन्द कर ध्यानमग्न हो गये।

वह व्यक्ति पुनः चिल्ला उठा, "मुझे प्रवेश की आज्ञा क्यों नहीं?" एक उदार शिष्य ने उसका पक्ष लेते हुए कहा, "भगवन्, उसे सभा में आने की अनुमति प्रदान करें।" बुद्धदेव ने नेत्र खोले और बोले, "नहीं! वह अस्पृश्य है, उसे आज्ञा नहीं दी जा सकती।"

"अस्पृश्य?" शिष्यगण आश्चर्य में डूब गये। बुद्धदेव उनके मन का भाव समझ गये। बोले "हाँ, वह अस्पृश्य है।" तब कई शिष्य एकदम बोल उठे, "वह अस्पृश्य क्यों? आपके धर्म में तो जात-पाँत का कोई भेद नहीं, फिर वह अस्पृश्य कैसे?"

तब बुद्धदेव ने स्पष्टीकरण किया, "आज यह क्रोधित होकर आया है। क्रोध से जीवन की एकता भंग होती है। क्रोधी व्यक्ति मानसिक हिंसा करता है। किसी भी कारण से क्रोध करनेवाला अस्पृश्य होता है। उसे कुछ समय तक पृथक् एकान्त में खड़े रहना चाहिए। पश्चात्ताप की अग्नि में तपकर वह समझ लेगा कि अहिंसा ही महान् कर्त्तव्य है—परम धर्म है।"

और शिष्यगण समझ गये कि अस्पृश्यता क्या है, अस्पृश्य कौन है। उस व्यक्ति को भी पश्चात्ताप हुआ और उसने फिर कभी क्रोधित न होने की कसम खायी।

३. सहनशीलता की पराकाष्ठा

सन्त एकनाथ किसी पर भी क्रोध न करने के लिए प्रसिद्ध थे। उनकी विनम्रता एवं सहनशीलता की सभी प्रशंसा किया करते। एक दिन कुछ शरारती लोगों ने

उन्हें क्रुद्ध करने की ठानी। उन्होंने इसके लिए एक दुष्ट व्यक्ति को चुना और उसे उन्हें क्रुद्ध कर देने के उपलक्ष्य में रुपयों का लालच दिया।

एकनाथजी भजन कर रहे थे कि वह दुष्ट व्यक्ति आया। उसने देखा कि वे नेत्र बन्द कर भजन में लीन हैं। वह उनके कन्धे पर चढ़ बैठा। सन्त ने आँखें खोलीं और मुस्कराते हुए कहा, "बन्धु! आप जैसी आत्मीयता दर्शानेवाला तो कोई भी अतिथि मेरे घर आज तक नहीं पधारा। मैं आपको बिना भोजन कराये जाने ही न दूँगा।" और उन्होंने सचमुच उसे प्रेमपूर्वक भोजन कराया। उस व्यक्ति को तो पश्चात्ताप हुआ ही, साथ ही उसे उकसानेवाले लोगों को भी उनकी सहनशीलता की प्रतीति हो गयी।

४. आनन्द का मूल्य

स्वामी रामतीर्थ जब सानफ्रान्सिस्को में थे, तब 'एनी' नामक एक महिला उनके पास आयी और हृदय-विदारक क्रन्दन करती हुई बोली, "प्रभो, मैं बहुत दुःखी हूँ। मेरा बच्चा जानलेवा बुखार से चल बसा है, कृपया उसे वापस दिला दें।"

स्वामीजी बोले, "माता, मैं तुम्हारा बच्चा तुम्हें वापस ला दूँगा। साथ ही तुम्हारा दुःख दूर करने के लिए आनन्द का मन्त्र भी दूँगा, किन्तु तुम्हें उसके लिए कीमत चुकानी होगी।"

आवेश में वह दुःखिनी बोली, "स्वामीजी, मेरे बच्चे

के लिए चाहे जितनी भी कीमत चुकानी पड़े, मैं पीछे न हटूँगी। मेरे पास धन-दौलत की कमी नहीं, आप जो माँगें, मैं दूँगी।"

स्वामीजी बोले, "राम के परमानन्द साम्राज्य में इस दौलत की कुछ कीमत नहीं। राम इससे भी बड़ी कीमत माँगता है।"

"स्वामीजी, मैं हर कीमत पर वह आनन्द प्राप्त करना चाहती हूँ।" वह स्त्री बोली।

"तो फिर राम के साम्राज्य में आनन्द का अभाव ही कहाँ?" कहते हुए स्वामीजी उसे एक अत्यन्त निर्धन बस्ती में ले गये और एक अनाथ हब्शी बालक का हाथ पकड़कर बोले, "यह रहा तुम्हारा बच्चा! माता, इसे गोद ले लो। यह स्वयं राम का आत्म-स्वरूप है। इसे पुत्रवत् पालना। तू इसका जितना लाड़ करेगी, तेरे सुख का दरिया उतना ही उमड़-उमड़कर बहेगा।"

स्वामीजी के इन शब्दों में विश्व के समस्त उपेक्षितों, मातृहीनों एवं भूखों को अपने आलिंगन में समेट लेने-वाला स्नेह बरस रहा था। उनके मुख पर ईश्वरीय आभा खेल रही थी। पराये दुःख-दर्द को अपना कर उसमें अपना खोया आनन्द-धन पा लेने का गुरुमन्त्र एनी के हाथ लग गया। उसके गोरेपन का गर्व गल गया। उच्चता के अभिमान की दीवार ढह गयी। उस धूलि-धूसरित हब्शी बालक को उसने अपने कोख से जन्मे बच्चे की तरह छाती से चिपका लिया। उसका श्मशान-सदृश घर

फिर निश्छल हास्य की किलकारियों से गूंज उठा।

५. ईश्वर की एक सदी, इन्सान की एक रात

नित्य की नाईं आज भी हजरत इब्राहीम अपने तम्बू के दरवाजे पर बैठे हुए थे कि कोई राहगीर गुजरे तो बुलाकर उसका आतिथ्य करें। इतने में उन्होंने देखा कि जिन्दगी और सफर से थका-भुका सौबरस का एक बूढ़ा राहगीर लठियाँ टेकता हुआ उन्हीं की ओर चला आ रहा है। इब्राहीम ने बड़े प्यार से उसका स्वागत किया, उसके पाँव धोये और उसे बैठाकर खाना परोसा। लेकिन उन्हें यह देखकर ताज्जुब हुआ कि बूढ़े ने न तो प्रार्थना की, न ईश्वर को धन्यवाद दिया, बल्कि एकदम खाने पर हाथ साफ करना शुरू किया। उन्होंने बूढ़े से पूछा, "बाबा, क्या तुम ईश्वर की इबादत नहीं करते ?" बूढ़े ने उत्तर दिया, "मैं तो अग्नि की पूजा करता हूँ। मैं किसी दूसरे ईश्वर को नहीं मानता।" यह सुनना था कि हजरत इब्राहीम आगबबुला हो गये और उन्होंने बूढ़े को उसी क्षण धक्का देकर तम्बू से निकाल दिया—यह भी न सोचा कि उसे खाने पर से उठाया जा रहा है, रात गहरी हो चुकी है और चारों तरफ बियाबान रेगिस्तान है।

बूढ़े के चले जाने के बाद ईश्वर ने इब्राहीम को पुकारा और उनसे पूछा कि बूढ़ा अजनबी कहाँ गया ? इब्राहीम ने उत्तर दिया, "भगवन्, मैंने ही उसे निकाल दिया, क्योंकि वह तुम्हारी इबादत कतई नहीं करता।"

इस पर भगवान् बोले, "इब्राहीम! वह बूढ़ा हमेशा मेरी तौहीन करता है, फिर भी मैं इसे सौ साल से सहता चला आ रहा हूँ। तो क्या तुम एक रात के लिए भी नहीं सह सकते थे?" और इब्राहीम को अपनी भूल महसूस हुई। उन्होंने ईश्वर से क्षमा माँगी।

६. निश्चिन्तता का मार्ग

एक बार गुरु मच्छिन्द्रनाथ अपने शिष्य गोरखनाथ के साथ भ्रमण कर रहे थे। रास्ते में गुरु ने अपनी झोली शिष्य को दे दी। गोरखनाथ को वह झोली भारी लगी। उन्होंने चुपके से जो देखा, तो उसमें उन्हें सोने की ईंटें दिखायी दीं। वे चिन्तित होकर चलने लगे।

आगे चलकर गुरु ने मुड़कर शिष्य से पूछा, "बेटा, हमें इस निर्जन वन में से होकर जाना है, रास्ते में कुछ भय तो नहीं है?"

गोरखनाथ बोले, "गुरुजी, भय को तो मैं कभी का रास्ते में फेंक आया, तभी तो निश्चिन्त होकर मुझसे चला जा रहा है!"

७. सच्ची भक्ति

आन्ध्र के पोतन्ना नामक सन्त कवि कृषक थे। खेती द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे। भगवान् की भक्ति में सदैव लीन रहते थे। संस्कृत का अधिक ज्ञान न था, किन्तु अध्ययन करते-करते उन्हें कुछ ज्ञान अवश्य हो गया था, इसीलिए वे 'भागवत' का तेलुगु में अनुवाद कर पाये थे। उन्होंने जब यह ग्रन्थ लिखा, तो मित्रों ने

सलाह दी कि यदि ग्रन्थ राजा को समर्पित किया जायेगा, तो खूब प्रचार होगा, साथ ही धन भी अधिक मात्रा में मिलेगा। किन्तु भक्त कवि ने बात अनसुनी कर जवाब दिया, "मैं इस पर सोचूँगा।" और जब उन मित्रों ने समर्पण-पत्रिका देखी, तो उन्होंने यह लिखा पाया—
"यह भगवान् की कृति भगवान् को ही अर्पित करता हूँ।"

अधिकांश सम्प्रदाय अल्पजीवी और पानी के बुदबुदे के समान क्षणभंगुर होते हैं, क्योंकि बहुधा उनके प्रणेताओं में चरित्रबल नहीं होता। पूर्ण प्रेम और प्रतिक्रिया न करने-वाले हृदय से चरित्र का निर्माण होता है। जब नेता में चरित्र नहीं होता, तब उसमें निष्ठा की सम्भावना नहीं होती। चरित्र की पूर्ण पवित्रता से स्थायी विश्वास और निष्ठा अवश्य उत्पन्न होती है। कोई विचार लो, उसमें अनुरक्त हो जाओ, धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते रहो, तो तुम्हारे लिये सूर्योदय अवश्य होगा।

—स्वामी विवेकानन्द

क्या प्रियदर्शी अशोक बौद्ध नहीं थे ?

श्रीमती पुष्पा तिवारी

प्रियदर्शी अशोक के बौद्ध धर्म के अनुयायी होने के सम्बन्ध में संक्षेप में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं—

१. बौद्ध धर्म को एक संकुचित सम्प्रदायगत दर्शन से रूपान्तरित कर उसे संसार के महान् धर्मों में से एक का स्वरूप प्रदान करने का श्रेय निश्चित ही अशोक को है।

२. अशोक ने अहिंसा और मैत्री (करुणा) के सिद्धान्तों का कट्टर प्रतिपादन कर अपने युग के विभिन्न सम्प्रदायों के चिन्तकों से तादात्म्य स्थापित कर लिया था, जो स्वयं इन गुणों को प्रचारित करते थे। कालान्तर में बौद्ध धर्म के इन तत्त्वों से अनुप्राणित होकर वह इस धर्म के प्रभाव में आया और तदनन्तर इसकी दीक्षा भी ग्रहण की।

३. अशोक एक निरंकुश शासक होने के अलावा बौद्ध भिक्षु भी था।

४. अपनी राजाज्ञाओं में अशोक ने भिक्षुओं को बौद्ध धर्मग्रन्थों में वर्णित पवित्र सात मार्गों को अपनाने की संस्तुति भी की थी।

अशोक की नीति-संहिता भगवान् बुद्ध द्वारा प्रचारित दर्शन पर ही आधारित थी। उसके धर्म का स्वरूप

मूलत: आचार-व्यवहार की शुद्धता से ही सम्बद्ध था। यह संहिता अपनी मूल प्रकृति में बौद्ध धर्म से ही उपजी थी।

६. अशोक-प्रचारित सहिष्णुता का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन का ही अंग है।

७. अशोक द्वारा बतलाया हुआ निर्वाण का मार्ग स्वयं भगवान् बोधिसत्त्व के जीवन की घटनाओं से आश्चर्यजनक रूप से मिलता जुलता है।

लेकिन अशोक के बौद्ध धर्म के अनुयायी होने सम्बन्धी अब तक की अवधारणाओं को नये इतिहासकारों और शोधकर्ताओं की चुनौतियों का सामना करना पड़ा है। अशोक को हिन्दू घोषित करने के पक्ष में ये विद्वान् निम्नलिखित दलीलें प्रस्तुत करते हैं––

१. यह तथ्य स्पष्ट है कि भारत (जम्बुद्वीप) में भारी सफलता हासिल करने के बावजूद इस बात के पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि यूनान, मेसीदोनिया, साइरीन, कोरिन्थ, ईपीरिस और सीरिया आदि देशों में अशोक द्वारा प्रचारित (?) 'थेरावाद' को प्रबल और व्यापक जन-समर्थन प्राप्त हुआ है। यदि अशोक ने इन पश्चिमी देशों में धर्मप्रचारक भेजे होते तो चीन, जापान और अन्य पूर्व-एशियाई देशों की तरह वहाँ भी बौद्ध धर्म की स्मृति कुछ न कुछ सुरक्षित रहती। इसके अतिरिक्त, बौद्ध ग्रन्थों में धर्मप्रचारकों के कार्य को प्रोत्साहित करने का श्रेय अशोक की अपेक्षा तिस्सा को

दिया जाता है। अशोक ने किसी धर्म (विशेषतः बौद्ध धर्म) का प्रचार नहीं किया वरन् अपनी राजाज्ञाओं में सामान्य नैतिक सिद्धान्तों को जनसाधारण द्वारा अपनाये जाने की अपीलें ही प्रसारित कीं।

२. इन विद्वानों के मत से अहिंसा और मैत्री (करुणा) मूलतः हिन्दू धर्म के ही नीति-सिद्धान्त हैं और हिन्दू धर्म स्पष्ट ही बौद्ध धर्म से अधिक प्राचीन है। इसके अलावा अहिंसा का सिद्धान्त बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म के अधिक निकट है। आज भी जैन धर्म के अनुयायी इस सिद्धान्त का पालन अन्य किसी भी धर्मावलम्बी की अपेक्षा अधिक कड़ाई से करते हैं। अशोक वैसे भी हर तरह की हिंसा के विरुद्ध नहीं था। उसकी अहिंसा की परिकल्पना बौद्ध अथवा जैन धर्म की अपेक्षा योग के प्रथम चरण यम के एक अवयव की तरह थी। वध-अयोग्य पशुओं की अशोक की सूची मनु के धर्मशास्त्र (अध्याय ५) में दी गयी सूची से बिलकुल मिलती जुलती है। यह कथन कि जानवरों की हत्या का विरोध अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रति झुकाव के कारण ही किया था, असंगत है। श्री के. वी. रंगास्वामी के अनुसार, स्वयं बौद्ध भिक्षुओं के लिये तीन तरह का मांस खाने योग्य था—अदृष्ट, अश्रुत और असंदिग्ध। बौद्ध देशों में भी मांस-भक्षण की प्रथा प्रचलित रही है। बौद्ध धर्म के पूर्व ही हिन्दू धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में जीव-हत्या के विरुद्ध अनेक निर्देश मिलते हैं।

३. अशोक के एक साथ ही भिक्षु और शासक होने सम्बन्धी अवधारणा को भी ऐतिहासिक गवेषणाओं और उपलब्ध तथ्यों की कसौटी पर कसने से अनेक शंकाएँ उपस्थित होती हैं, क्योंकि मठवासीय जीवन राजकीय कर्तव्यों के अनुकूल नहीं है। प्रत्येक उपासक को 'बुद्ध, धर्म और संघ' की शरण लेनी पड़ती थी। अशोक का संघ में प्रवेश सन्दिग्ध ही है। वैसे भी बौद्ध-संघों की प्रणाली वैदिक संन्यास-पद्धति पर ही आधारित थी। 'अंगुत्तर निकाय' के अनुसार बुद्ध का धर्म प्राचीन सन्तों के अनुरूप ही था।

४. डा. श्रीकान्त शास्त्री के अनुसार बौद्ध संघ को सम्बोधित अशोक की राजाज्ञाएँ, धार्मिक स्थलों की यात्राएँ, आजीवकों को मिलनेवाली वृत्तियाँ आदि इस बात की परिचायक हैं कि वह बौद्ध जीवन-व्यवस्था का श्रद्धालु विद्यार्थी था और उनके कल्याण की कामना इसलिये सँजोये रखता था कि वे अन्य धर्मों के प्रति समादर रखनेवाले प्राचीन ब्राह्मण-आदर्शों के अनुरूप थे। अशोक वस्तुतः गीता के नीतिवचन का अनुयायी था।

५. अशोक की धार्मिक अवधारणाएँ सामान्य धर्म से प्रसूत हैं, विशेष धर्म से नहीं, जो प्रचलित सामाजिक विधान या वर्णाश्रम धर्म पर लागू होता है। अशोक का धर्म वस्तुतः ब्राह्मणीय धारणा ही है। भगवद्गीता ने इन शाश्वत सत्यों का कर्म के सन्दर्भ में समन्वय

प्रस्तुत किया है। अशोक का धर्मयुद्ध का विचार गीता के अनुरूप है जो जीवन को सात्त्विक, राजसिक और तामसिक में विभाजित करती है। अशोक ने भी किसी भी देश की विजय को खून-खराबी और हत्याओं के कारण ही अनुचित ठहराया है। अशोक की प्रेम, नैतिकता और दान की शिक्षाएँ उपनिषदों और गीता में वर्णित यज्ञ, अध्ययन और दान पर आधारित हैं। अशोक की 'धर्मदान' की मान्यता भी गीता के 'सात्त्विक दान' की अनुगूंज है। प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण का इच्छुक अशोक अपनी प्रजा को सन्तान की तरह प्यार करता था। स्वयं उसके सम्बन्धी साधारण लोगों की तरह रहते थे। वह गीता के आदेश 'समदर्शन' का परिपालक था।

अशोक की राय थी कि उसके सभी कर्म अन्य जीवित प्राणियों के प्रति ऋण चुकाने का पर्याय हैं और इसी से उसे मोक्ष-प्राप्ति होगी। गीता और अन्य धर्मशास्त्रों के अनुसार भी मनुष्य अन्य प्राणियों, पूर्वजों और ईश्वर के प्रति कर्जदार है। धर्म की स्थापना हो जाने के बावजूद अशोक के युग में जीव-हत्या, सम्बन्धियों और ब्राह्मणों का अनादर आदि वृद्धि पर था। अशोक ने इसी से नये प्रयास किये।

६. सहिष्णुता भी मूलतः बौद्ध-सिद्धान्त नहीं है। प्रत्युत वह सनातन धर्म का प्रमुख अभिलक्षण है। सभी धर्मों के प्रति अशोक की समादर की भावना प्राचीन

हिन्दू धर्म के निकट थी, न कि जैन और बौद्ध धर्म के समीप, जो छोटे-छोटे असहिष्णु सम्प्रदायों के रूप में विकसित हो रहे थे। अशोक वस्तुतः सभी धर्मों के मूल तत्त्वों का प्रचार करना चाहता था। हिन्दू धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के अनुसार राजा और राज्य का कल्याण पृथक् नहीं है। गीता के अनुसार साधारण मनुष्यों के निजी विश्वासों को बलपूर्वक बदलने की अपेक्षा उनकी नैतिकता का धरातल क्रमशः उठाने का प्रयास करना चाहिये। यही सभी धर्मों का लक्ष्य है। गीता के अनुसार अशोक भी चित्तशुद्धि और संयम का हिमायती था। इसके अतिरिक्त वह प्रत्येक पन्थ में ज्ञान, मस्तिष्क की पवित्रता और वाणी के संयम का पक्षधर था। उपनिषदों और गीता में इनका उल्लेख है।

७. हिन्दू विश्वासों के अनुरूप तथा बौद्ध चिन्तन के विरुद्ध अशोक की स्वर्ग के देवताओं और आत्मा के अस्तित्व में गहरी आस्था थी। डा. एफ. डब्ल्यू. थामस के अनुसार अशोक की राजाज्ञाओं में बौद्ध धर्म के विशिष्ट आदर्शों यथा 'चार परम सत्य', 'पवित्र अष्टपदीय पथ', कार्य-कारण सम्बन्ध और निर्वाण सम्बन्धी परिकल्पनाओं का उल्लेख नहीं है। इसलिये अशोक को बौद्ध घोषित नहीं किया जा सकता।

डा. श्रीकान्त शास्त्री के अनुसार सार्वभौमिक करुणा और मैत्री के विचार तर्क और तत्त्व की दृष्टि से ऐसे धर्म से असंगत हैं जो आत्मा के अस्तित्व को नकारता

तथा शून्यत्व और क्षणिकत्व का प्रतिपादन करता है, यद्यपि कालान्तर में बौद्ध धर्म ने इन विचारों को अंगीकृत कर लिया था। सार्वभौमिक करुणा का आधार वेदान्त-वर्णित सर्व-आत्मा-एकत्व ही है। इसलिये अशोक उन तात्त्विक और नैतिक मान्यताओं से प्रभावित था जो आत्मा को नकारनेवाले बौद्ध धर्म और द्वैतवादी जैन धर्म में नहीं थीं।

अशोक न तो कोई दार्शनिक था और न ही ब्रह्म-विज्ञानी। वह लोगों के समक्ष कुछ शाश्वत सत्य प्रस्तुत भर कर देना चाहता था। वह अपने अन्य पूर्वजों की तरह हिन्दू धर्म का ही अनुयायी था। वह बौद्ध या जैन नहीं था बल्कि सनातन धर्म का उपासक था।

*

क्या तुमने इतिहास में नहीं पढ़ा है कि देश का मृत्यु का चिह्न अपवित्रता या चरित्रहीनता के भीतर से होकर आया है-–जब यह किसी जाति में प्रवेश कर जाती है, तो समझना कि उसका विनाश निकट आ गया है।

—स्वामी विवेकानन्द

अपूर्व त्याग

सन्तोष कुमार झा

महाराज शान्तनु एक बार अपने सारथी के साथ वन-विहार के लिए गये थे। वन में घूमते घूमते उन्हें किसी वस्तु की मोहक सुगन्ध आयी। राजा उस सुगन्ध के कारण को खोजते खोजते एक नदी के किनारे पहुँच गये। वहाँ उन्होंने देखा कि एक अत्यन्त सुन्दर युवती एक नाव के पास खड़ी है। कुछ क्षणों तक राजा अपलक दृष्टि से उस युवती को देखते रहे। फिर उससे पूछा, "सुन्दरी! तुम कौन हो? तुम्हारा नाम क्या है?"

सकुचाती हुई-सी उस युवती ने निवेदन किया, "महाराज! मैं निषादराज की कन्या सत्यवती हूँ। पिताजी की आज्ञा से यहाँ नाव चलाया करती हूँ।"

युवती से उसके पिता का परिचय पाकर राजा शान्तनु ने मन ही मन कुछ निश्चय किया और वे सत्यवती के पिता के पास पहुँचे। महाराज को अपने घर आया देखकर निषादराज विस्मय में डूब गया। उसने यथाशक्य उनका स्वागत किया और विनम्रतापूर्वक पूछा, "महाराज! आपने मुझ दीन के घर पधारने की कृपा कैसे की? मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ।"

राजा के मुँह से शब्द नहीं निकल पा रहे थे। आज

वे निषाद के घर उसके स्वामी होकर नहीं किन्तु एक साधारण याचक होकर आये थे। यही कारण था कि आदेश देने की अभ्यस्त जिह्वा याचना के लिए हिल नहीं पा रही थी। किन्तु कुछ ही क्षणों में वासना के आघात से मर्यादा के बन्धन टूट गये और राजा शान्तनु ने याचना के स्वर में कहा, "निषादराज! मैं तुमसे तुम्हारी कन्या सत्यवती को माँगने आया हूँ। मैं उसे अपनी रानी बनाना चाहता हूँ।"

सहसा निषाद को राजा के शब्दों पर विश्वास नहीं हुआ। किन्तु दूसरे ही क्षण उसने वस्तुस्थिति को भाँप लिया। वह समझ गया कि शान्तनु एक महाराजा के रूप में उसके घर नहीं पधारे हैं अपितु उसकी पुत्री पर आसक्त होकर, याचक बनकर आये हैं। याचना मानव की एक बड़ी दुर्बलता है। निषाद ने राजा की इस दुर्बलता से लाभ उठाना चाहा। उसने राजा से कहा, "महाराज! यह तो हमारा अहोभाग्य होगा, पर मेरी एक शर्त है; यदि आप उसे स्वीकार कर लें तो मैं सत्यवती का विवाह आपके साथ सहर्ष कर दूंगा।"

राजा ने कहा, "कहो निषादराज! तुम्हारी शर्त क्या है? मैं उसे पूर्ण करने का प्रयत्न करूँगा।"

निषाद ने अधिकार के स्वर में कहा, "राजन्! आप यह वचन दें कि सत्यवती के गर्भ से जो पुत्र होगा वही राज्य का उत्तराधिकारी होगा। आपके युवराज राज्य के अधिकारी न होंगे।"

शान्तनु पर जैसे वज्र-प्रहार हो गया! क्षण भर के लिए वे कुछ सोच न सके। किन्तु दूसरे ही क्षण उनके मनश्चक्षु के सामने युवराज देवव्रत का चित्र घूम गया। साथ ही यह प्रश्न उठा––"क्या सत्यवती को प्राप्त करने के लिए युवराज को राज्याधिकार से च्युत करना पड़ेगा? लोग क्या कहेंगे? युवराज स्वयं क्या सोचेंगे?" इतना बड़ा मूल्य चुकाने को उनका मन तैयार नहीं था। दूसरी ओर सत्यवती का आकर्षण भी उनके मन से छूट नहीं रहा था।

मनुष्य जब विवश होकर किसी वस्तु का त्याग करता है तब बाह्य रूप से भले ही वह वस्तु उससे छूट जाय किन्तु उसका मन उसे नहीं छोड़ पाता। उल्टे वह उस वस्तु के प्रति और अधिक आसक्त हो जाता है। महाराज शान्तनु की भी यही दशा हुई। लोक-लज्जा तथा युवराज के प्रति स्नेह के कारण वे निषादराज की शर्त पूरी नहीं कर सके, किन्तु वे सत्यवती को मन से त्याग भी न सके। सत्यवती को न पा सकने के दुःख में राजा भीतर ही भीतर घुलने लगे। उनका स्वास्थ्य गिर गया। प्रसन्नता और हँसी ने मानो उनसे विदा ही ले ली।

पिता की यह दशा देख कुमार देवव्रत बड़े दुःखी हुए। उन्होंने पिता से उनकी अस्वस्थता और चिन्ता का कारण पूछा। किन्तु पिता की मर्यादा ने शान्तनु की जिह्वा पकड़ ली। वे कुमार से कुछ न कह सके।

कुशाग्रबुद्धि देवव्रत ने पिता की मनोदशा को ताड़ लिया। उन्होंने मंत्रियों से अपने पिता की अस्वस्थता और चिन्ता का कारण पूछा। यद्यपि वे लोग राजा की चिन्ता और दुःख का कारण जानते थे किन्तु तेजस्वी कुमार के सामने उसे प्रकट करने का साहस उन्हें नहीं हो पा रहा था। फिर भी एक वृद्ध मंत्री ने कहा, "युवराज! आपके पिता का सारथि आपको उनकी चिन्ता का कारण बता सकेगा।"

कुमार देवव्रत सारथि के पास गये और उससे कहा, "सारथिप्रवर! आप मेरे पिता के हितैषी हैं। आपको अवश्य उनकी चिन्ता और दुःख का कारण ज्ञात है। आप कृपापूर्वक मुझे वह कारण बतलायें। मैं पिताजी के दुःख को दूर करने का उपाय करूँगा।"

सारथि ने कहा, "युवराज! वास्तव में तुम्हीं महाराज का दुःख दूर कर सकते हो।"

युवराज बीच में ही कह उठे, "शीघ्र कहिये, मैं कैसे पिताजी की चिन्ता दूर कर सकता हूँ?"

सारथि ने शान्त स्वर में कहा, "कुमार! निषादराज की कन्या सत्यवती के प्रति महाराज का मन आकृष्ट हो उठा है। किन्तु निषादराज ने महाराज से अपनी कन्या का विवाह करने के लिए एक कड़ी शर्त रखी है।"

युवराज ने अधीर होते हुए कहा, "कहिये, निषादराज ने क्या शर्त रखी है? मैं उस शर्त को प्राण देकर भी पूर्ण करने का प्रयत्न करूँगा।"

सारथि ने दुःखपूर्ण स्वर में कहा, "युवराज ! निषाद की यह शर्त है कि यदि तुम राज्य का अधिकार त्याग दो तथा सत्यवती के गर्भ से जो पुत्र हो वही राज्य का अधिकारी हो, तो वे सत्यवती का विवाह महाराज से करने को प्रस्तुत हैं ।"

देवव्रत ने कहा, "सारथिप्रवर ! आप अभी ही मुझे निषादराज के पास ले चलिये । मैं उनकी शर्त पूरी कर सत्यवती को पिताजी के लिए माँग लूँगा ।"

कर्त्तव्यविमूढ़ सारथि युवराज को निषाद के घर ले चला । उसके साथ कुछ मंत्रीगण भी हो लिये ।

पराक्रमी युवराज को अपने घर आया देख निषादराज को भयमिश्रित कौतूहल हुआ । कुमार का यथोचित सत्कार कर उसने कहा, "युवराज ! आपने मुझ अकिंचन के घर आने का कष्ट कैसे किया ?"

युवराज ने गम्भीर स्वर में कहा, "निषादराज ! आप जानते हैं कि आपकी सुपुत्री सत्यवती से मेरे पिता विवाह करना चाहते हैं तथा आपने उसके लिए एक शर्त रखी है । मैं वही शर्त पूरी करने आया हूँ ।" यह कहकर युवराज ने घोषणा की, "मैं आप सबके सम्मुख यह घोषणा करता हूँ कि आज से मैंने युवराज का पद तथा राज्य के सभी अधिकार त्याग दिये । अब सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न सन्तान ही राज्य की उत्तराधिकारी होगी ।"

मर्त्य मानव अमरत्व की योजना बनाता है । सीमित

आयुवाला मनुष्य अनन्त काल तक के लिए व्यवस्थाएँ कर लेना चाहता है ।

निषाद कुमार देवव्रत द्वारा दिये गये वचनों से सन्तुष्ट नहीं हुआ । उसके मन में एक शंका उठी और उसने कहा, "युवराज ! आप सत्यनिष्ठ हैं । अतः आपके वचनों पर मुझे पूरा विश्वास है । किन्तु कुमार ! भविष्य में यदि आपकी सन्तानों ने सत्यवती की सन्तानों को परास्त कर राज्य पर अधिकार कर लिया तब क्या होगा ?"

निषाद का प्रश्न सुनकर देवव्रत गम्भीर हो किसी गहरे चिन्तन में डूब गये । देखा कि सत्यवती को पा करके ही महाराज शान्तनु सुखी हो सकते थे । और सत्यवती का मूल्य था कुमार देवव्रत द्वारा सर्वस्व का त्याग ।

देवव्रत की यह अग्नि-परीक्षा थी । उन्हें निश्चय करना था कि पिता के सुख के लिए सर्वस्व का त्याग कर, आजीवन तपानेवाली कठोर तपश्चर्या से भरे जीवन का व्रत लें, अथवा पिता के सुख की चिन्ता न कर अतुल राजवैभव का अधिकारी बन सुख और भोगपूर्ण जीवन व्यतीत करें । तारुण्य की उमंग युवराज को राजवैभव की ओर खींच रही थी, भोगपूर्ण जीवन के मधुर स्वप्न दिखा रही थी । और दूसरी ओर कर्त्तव्य की प्रखर अग्नि उन्हें भोगपूर्ण जीवन की आहुति देकर त्यागमय जीवन को वरण कर लेने का आह्वान कर रही थी ।

परीक्षा के इस कठिन क्षण में युवराज के शुभ संस्कार जाग उठे। उनके मुख पर दृढ़ निश्चय का प्रखर तेज चमक उठा। उन्होंने मेघ-गम्भीर स्वर में कहा, "निषाद-राज! सावधान होकर सुनो! जन्म से लेकर आज तक मैंने कभी कोई असत्य बात नहीं कही है। राज्य का तो मैं पहले ही त्याग कर चुका हूँ। अब मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक मेरे शरीर में प्राण हैं तब तक मैं अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करूँगा।"

कुमार की यह भीषण प्रतिज्ञा सुनकर सभी लोग स्तब्ध रह गये। देवताओं ने आकाश से पुष्पों की वर्षा की तथा उनकी इस भीषण प्रतिज्ञा के कारण उनका नाम भीष्म रख दिया।

निषादराज ने गद्‌गद् कण्ठ से कहा, "युवराज! आप धन्य हैं! मैं अपनी पुत्री को आपके पिता के निमित्त सहर्ष प्रदान करता हूँ।"

कुमार देवव्रत सत्यवती को सम्मान पूर्वक रथ में बिठाकर राजमहल ले आये और अपने पिता की सेवा में उन्हें अर्पित कर दिया।

भीष्म की प्रतिज्ञा मानव-चरित्र की गौरव-पताका है। यह ऐसा ध्रुवतारा है जो मानव का सतत मार्गदर्शन कर उसे जीवन के उच्चादर्शों की ओर बढ़ने के लिए निरन्तर प्रेरित करता है। आवेश और उत्तेजना के क्षणों में किसी महत् कार्य के लिए जीवन का उत्सर्ग कर देना महान् कार्य अवश्य है, किन्तु किसी महत् उद्देश्य की पूर्ति के

निमित्त जीवनपर्यन्त तिल-तिल जलानेवाली कठोर तपश्चर्या और साधना का जीवन स्वीकार करना महान-तम कार्य है। महात्मा भीष्म का जीवन इसी महत्तम कार्य का एक ज्वलन्त उदाहरण है। उनका जीवन, समर्पणपूर्वक साधना करनेवाले साधकों के लिए आज भी प्रेरणा का अजस्र स्रोत है।

●

आप विदेशी सहायता पर कतई निर्भर न करें। व्यक्ति की तरह जाति को भी अपनी सहायता आप ही करनी होगी। यही यथार्थ में स्वदेश प्रेम है। यदि कोई जाति ऐसा करने में असमर्थ हो तो यह करना पड़ेगा कि उसके लिए अभी समय नहीं हुआ है, उसे प्रतीक्षा करनी पडेगी।

मृत्युपर्यन्त काम करो—मैं तुम्हारे साथ हूँ, और जब मैं न रहूँगा, तब मेरी आत्मा तुम्हारे साथ काम करेगी। यह जीवन आता है और जाता है—नाम, यश, भोग यह सब दिन के हैं। संसारी कीड़े की तरह मरने से अच्छा है—कहीं अधिक अच्छा है कि कर्तव्य के क्षेत्र में सत्य का उपदेश देते हुए मरो। आगे बढ़ो।

—स्वामी विवेकानन्द

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

इसी बीच स्वामीजी को शिकागो के एक ख्याति-प्राप्त लेक्चर ब्यूरो (सम्भवत: स्लेटन् लाइसियम लेक्चर ब्यूरो) का आमंत्रण मिला। उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया और वे उक्त ब्यूरो से तीन साल के लिये अनुबन्धित भी हो गये। यह खबर मेम्फिस में प्रकाशित समाचार-पत्र 'अपील अवलांश' के २१ जनवरी १८९४ के अंक में छपी थी। घटना सम्भवत: नवम्बर के दूसरे-तीसरे सप्ताह की होगी क्योंकि आलासिंगा को २ नवम्बर को लिखे पत्र में इसका आभास नहीं मिलता। बल्कि इसके विपरीत उन्होंने लिखा था, "मैं इस देश में शीतकाल तक रहूँगा, उसके बाद योरोप जाऊँगा।" इससे यह प्रतीत होता है कि उस समय अमेरिका में अधिक दिन तक रुकने का विचार नहीं बना था। लेक्चर ब्यूरो के साथ इतने लम्बे अरसे के लिए अनुबन्धित होने का प्रमुख कारण यही प्रतीत होता है कि वह उन्हें अपने विचारों और सिद्धान्तों को प्रचारित करने का उत्तम माध्यम प्रतीत हुआ होगा। उसके द्वारा वे उस देश में भारत और उसकी संस्कृति के बारे में उन भ्रान्त धारणाओं और कुत्सित भावनाओं को निर्मूल करना चाहते थे जो ईसाई मिशनरियों द्वारा

फैलायी गयी थीं। इतना ही नहीं, वे भारत के जीवन-प्रद अमृत-तत्त्वों का वर्णन कर, भोग और जड़वाद की अनल ज्वाला से तप्त अमरीकावासियों को मानव-जीवन के चरम उद्देश्य से परिचित कराना चाहते थे। दूसरा उद्देश्य यह भी हो सकता है कि वे अपने ही पैरों पर खड़े हो इस लेक्चर ब्यूरो के द्वारा अर्थोपार्जन करना चाहते थे ताकि बाद में अपनी भारत सम्बन्धी योजनाओं को वे मूर्त रूप दे सकें। कारण यह था कि उन्होंने इस बीच यह अनुभव कर लिया था कि अमरीका-निवासियों से भारत के लिए दान की आशा करना आकाश-कुसुम के समान है। सम्भवतः इसीलिये वे उक्त लेक्चर ब्यूरो को स्व-प्रयत्न से धनोपार्जन का एक उत्तम साधन मान-कर ही उसके साथ इतने लम्बे समय के लिए अनुबन्धित हुए थे। २८ दिसम्बर १८९३ को उन्होंने हरिपद मित्र को लिखा था, "मैं यहाँ देश देखने नहीं आया, न तमाशा देखने, और न नाम तथा यश के लिए ही; वरन् भारत के दरिद्रों के लिए उपाय ढूंढ़ने आया हूँ। यदि भगवान् सहायक हुए तो धीरे धीरे तुम्हें मालूम हो जायगा कि वह उपाय क्या है।" फिर वे लिखते हैं, "अमेरिकावालों में अनेक दोष भी हैं। वे आध्यात्मि-कता में हमसे अत्यन्त निम्न स्तर पर हैं किन्तु इनका सामाजिक स्तर बड़ा ऊँचा है। हम इन्हें अपनी आध्या-त्मिकता सिखायेंगे और स्वयं इनके समाज के अच्छे गुणों को ग्रहण करेंगे।"

किन्तु, जैसा हम बाद में देखेंगे, स्वामीजी इस लेक्चर ब्यूरो के साथ अधिक दिन नहीं रहे । सम्भवतः कारण यह था कि वह एक व्यापारिक संस्था थी और उसके आयोजकों का उद्देश्य येन-केन-प्रकारेण पैसा कमाना था । स्वामीजी जैसे सुप्रसिद्ध वक्ता को पाकर उन्होंने विभिन्न नगरों में उनके व्याख्यानों का आयोजन किया और प्रचुर धन कमाया, किन्तु उसका अत्यल्प भाग ही स्वामीजी को मिला । स्वभाव से सरल तथा रुपये-पैसे के मामले में अलिप्त होने के कारण पहले स्वामीजी कुछ भी समझ न पाये । पर धीरे धीरे जब वे उनके धूर्ततापूर्ण कारनामों से परिचित हुए, तब उन्होंने उस लेक्चर ब्यूरो का परित्याग कर दिया । इस बीच उन्हें न केवल आर्थिक हानि हुई वरन् भीषण कष्टसाध्य शारीरिक और मानसिक परिश्रम भी करना पड़ा । कई बार तो एक ही दिन में उन्हें विभिन्न स्थानों में जाकर बक्तृता देनी पड़ती थी । जैसे उनका दौरा तूफानी था, वैसे ही उनके व्याख्यान भी ओजपूर्ण और आग बरसाने वाले होते थे । इसीलिए उन्हें 'तूफानी हिन्दू' (Cyclonic Hindu) के नाम से जाना जाने लगा था ।

परन्तु आश्चर्य की बात है कि अमेरिका में पदार्पण करने से लेकर लेक्चर ब्यूरो के साथ अनुबन्धित होने तक उन्होंने भारत में स्थित अपने गुरुभाइयों तथा अन्य परिचितों को कोई पत्र नहीं लिखा और न अपने कार्य-

कलापों से उन्हें अवगत ही कराया। हाँ, मद्रास के शिष्यों को अवश्य इस बीच उन्होंने तीन पत्र लिखे थे। श्रीमती बर्क के मतानुसार, "इसका कारण यह हो सकता है कि लम्बे समय से गुरुभाइयों के साथ सम्पर्क न होने के कारण वे उन्हें लिखने के अनभ्यस्त हो गये हों; अथवा यह भी सम्भव है कि वे उन लोगों को उस समय अपने मन में रूप ले रही नवीन योजना को बताने के लिए तैयार न रहे हों और यह सोचते रहे हों कि पहले अपने शिष्यों के माध्यम से इस योजना का कार्यान्वयन कर लिया जाय। यह भी सम्भव है कि यह चाहने से पूर्व कि उनके गुरुभाई उनके सिद्धान्तों का अनुसरण करें, वे किसी दैवी आज्ञा की प्रतीक्षा में हों। किन्तु एक अन्य तथा अधिक सरल उत्तर यह हो सकता है कि उस समय श्रीरामकृष्ण देव के प्रायः सभी शिष्य भारत में भ्रमण कर रहे थे और उनका पता लगा पाना उतना ही कठिन था जितना कि स्वयं स्वामीजी का।" पर भले ही स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयों को कोई सूचना नहीं दी थी, तथापि वे जान गये थे कि स्वामी विवेकानन्द और कोई दूसरे नहीं, बल्कि उनके ही परम स्नेही नरेन्द्रनाथ हैं जिनकी अलौकिक क्षमता के बारे में श्रीरामकृष्ण ने कई बार संकेत किया था। वे लोग उनका समाचार जानने के लिए कितने उत्कट रूप से लालायित थे यह उनके द्वारा 'थास. कुक एंड सन्स कलकत्ता' को भिजवाये गये पत्र से विदित होता है। पत्र

इस प्रकार है—

प्रिय महोदय,

स्वामी विवेकानन्द
द्वारा मिस्टर जी. डब्ल्यू. हेल
५४१, डीयरबोर्न एवेन्यू शिकागो

उपरिलिखित हिन्दू संन्यासी मेसर्स थास. कुक एंड सन्स एजेन्सी द्वारा यात्रा करते रहे हैं। आपके बम्बई के आदमियों ने पिछले वर्ष उनकी अमेरिका की यात्रा का प्रबन्ध किया था। वहाँ वे शिकागो विश्व-मेला के अवसर पर आयोजित सर्व-धर्म-सम्मेलन में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करने गये थे। ऐसा पता चला है कि उन्होंने वहाँ अनेक व्याख्यान दिये हैं। उनमें से कुछ ही भारतीय पत्रों में प्रकाशित हुए हैं। चूंकि प्रकाशित अंश और सूचनाएँ सन्तोषप्रद नहीं हैं इसलिए स्वामीजी के गुरुभाई तथा प्रशंसक उन समस्त अमरीकी पत्रों को अथवा उनकी कतरनों को, जो भी अधिक सुविधाजनक हो, प्राप्त करने के इच्छुक हैं जिनमें शिकागो के आस-पास तथा अमेरिका के अन्य विभिन्न स्थानों में दिये गये उनके सारे व्याख्यान आ जायँ। ऐसी सभी सूचनाएँ तथा उनके पक्ष और विपक्ष में दी गयी समस्त आलोचनाएँ, जो समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुई हों, अपेक्षित हैं। सर्व-धर्म-सम्मेलन की रिपोर्ट की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसकी एक प्रति वहाँ से प्राप्त कर ली गयी है। आपकी अनेक एजेन्सियाँ तथा शाखाएँ वहाँ पूरे देश

में फैली हैं। अतः अगर आप इन पत्रों तथा पत्रिकाओं को, स्वामीजी के दो-एक प्रचलित चित्रों के साथ, अपने यहाँ के पते पर मँगवा सकें तो स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाइयों और उनके प्रशंसकों की ओर से प्रार्थी आपका अत्यन्त कृतज्ञ होगा। इन सबका व्यय स्वामीजी के प्रशंसकों की ओर से प्रार्थी द्वारा प्रेषित किया जायेगा। एक बात और—स्वामीजी का एक ही पता ज्ञात है जो ऊपर दिया गया है। अतः यह बिलकुल सम्भव है कि जब तक यह पत्र आपके शिकागो-एजेन्ट के पास पहुँचेगा तब तक स्वामीजी ने शिकागो छोड़ दिया हो या छोड़ने-वाले हों। इसलिए मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आप कृपया अपने शिकागो के एजेन्ट को लिखकर सूचित करें कि वे श्री हेल से अथवा जो भी स्वामीजी की गति-विधियों से अवगत हों, उनसे स्वयं सम्पर्क साधें, क्योंकि संन्यास-धर्म के नियमों के अनुसार स्वामीजी अपनी गतिविधि की सूचना नहीं भेजेंगे, जिसकी बाट इतनी उत्सुकता से उनके गुरुभाई तथा प्रशंसक जोह रहे हैं।

आपका आज्ञाकारी
कालीकृष्ण दत्त
कैशियर तथा एकाउंटेंट, थास. कुक एंड कंपनी,
कलकत्ता।

उनके गुरुभाई इस कम्पनी द्वारा कहाँ तक स्वामीजी के बारे में जानकारी प्राप्त करने में सफल हुए थे यह नहीं कहा जा सकता। पर स्वामीजी ने पहला पत्र

अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को सम्भवतः १८ फरवरी १८९४ को लिखा था। उसके बाद उन्होंने शायद अप्रैल १८९४ में स्वामी शिवानन्द को लिखा था कि वे सभी गुरुभाइयों को मठ में एकत्रित कर कार्य प्रारम्भ करें। इस पत्र के मिलने के बाद स्वामी शिवानन्द ने लखनऊ में जाकर स्वामी ब्रह्मानन्द और स्वामी तुरीयानन्द से भेंट की थी और स्वामीजी की इच्छा कह सुनायी थी। स्वामी तुरीयानन्द अगस्त में कलकत्ता लौटे पर स्वामी ब्रह्मानन्द पहले वृन्दावन गये और लगभग नवम्बर-दिसम्बर तक कलकत्ता वापस आये। धीरे धीरे मठ में सभी गुरुभाई एकत्रित हो गये और नवम्बर के बाद हम स्वामीजी को उन्हें प्रायः समय समय पर पत्र लिखते हुए पाते हैं। ये पत्र समाज और देश को पुनरुज्जीवित करने की ज्वलन्त प्रेरणाओं से ओत-प्रोत हैं।

लेक्चर ब्यूरो के साथ स्वामीजी का तूफानी दौरा सम्भवतः नवम्बर १८९३ के तृतीय सप्ताह से प्रारम्भ हुआ जो अप्रैल १८९४ तक चला। इस बीच उन्होंने मध्य-पश्चिमी तथा दक्षिणी भागों का भ्रमण किया। उन्होंने नवम्बर में न केवल मैडीसन, विस्कॉन्सिन, मिनियापालिस तथा मिनिसोटा में भाषण दिये वरन् डेसमॉइन्स, आइओवा में भी उनके व्याख्यान हुए। ये शहर उनके मध्य-पश्चिमांचल दौरे के बीच आये। स्वामीजी के इस प्रवास की एक सुन्दर झलक मार्था

ब्राउन फिंके द्वारा लिखित संस्मरण में मिलती है। उस समय वे कालेज की १८ वर्षीया छात्रा थीं और उनके कालेज में स्वामीजी का आगमन हुआ था। वे लिखती हैं—

"धर्ममहासभा के शेष हो जाने के बाद अपने प्रशंसकों की उदारता से मुक्त होने के लिए, स्वामीजी एक लेक्चर ब्यूरो के साथ अनुबन्धित हुए और पूर्व से प्रारम्भ करते हुए स्टेट्स की यात्रा पर निकले। नवम्बर की शुरुआत में वे नार्दम्पटन, मैसाच्यूसेट्स पहुँचे थे। न्यूयार्क और बोस्टन के बीच स्थित, आकर्षण लिए हुए यह पुराना शहर कैल्विन कूलिज का गृहनगर होने के कारण सुविख्यात था। ... सोफिया स्मिथ द्वारा आरम्भ किया गया स्मिथ महिला महाविद्यालय यहाँ के बौद्धिक जीवन का एक प्रमुख केन्द्र था।

"इसी कालेज में मैंने सन् १८९३ में प्रवेश लिया था। तब मैं एक अनुशासनहीन, अपरिपक्व मस्तिष्क वाली अठारह वर्ष की लड़की थी। यद्यपि मैं प्रोटेस्टेंट क्रिश्चियन कट्टरपन्थिता के कठोर और सुरक्षित वातावरण में बड़ी हुई थी तथापि किसी आशंका के वशीभूत हो मेरे माता-पिता ने मुझे घर से बाहर रखना ही उचित समझा ताकि मैं तथाकथित 'स्वतंत्र विचारों' के खतरे का सामना कर सकूँ।...

"कालेज का छात्रावास इतना बड़ा नहीं था कि उसमें सभी छात्राएँ रह सकें। अतः मुझे अन्य तीन नयी

छात्राओं के साथ कैम्पस के समीप एक घर में आवास दिया गया। हमारी निरीक्षिका के खुले विचारों तथा हँसमुख स्वभाव ने उसके निरंकुश शासन के बावजूद भी हमें उसके नजदीक ला दिया था। कालेज में बहुधा ऐसे व्याख्यान होते रहते थे जिनमें समस्त छात्राओं को अनिवार्य रूप से उपस्थित रहना पड़ता था। वहाँ प्रायः ही जाने-माने विचारवान् नेतागण आते रहते थे।

"नवम्बर के बुलेटिन में स्वामी विवेकानन्द का नाम था जो दो व्याख्यान देनेवाले थे। वे एक हिन्दू संन्यासी हैं इसके अतिरिक्त उनके बारे में हमें और कुछ भी नहीं मालूम था, क्योंकि धर्म-महासभा में अर्जित उनकी सुख्याति की खबर हमारे कानों तक नहीं पहुँच पायी थी। तभी एक सनसनीखेज खबर मिली कि वे हमारे घर पर ठहरेंगे, हमारे साथ भोजन करेंगे तथा हमें उनसे भारत के बारे में प्रश्न पूछने का सुयोग प्राप्त होगा। हमारी गृहस्वामिनी की सहनशीलता श्लाघनीय थी कि उन्होंने घर में ऐसे एक काले आदमी का आतिथ्य किया जिसे निस्सन्देह होटलों ने प्रवेश देने से इन्कार कर दिया होगा। काफी अरसे बाद भी, सन् १९१२ में, महान् कवि टैगोर को अपने मित्र के साथ न्यूयार्क की सड़कों पर निवास की खोज में भटकना पड़ा था पर फिर भी सफलता नहीं मिली थी!

"भारत का नाम मेरे लिए बचपन से ही परिचित था, क्योंकि मेरी माँ ने एक पादरी से, जो भारत में

मिशनरी होकर गये थे, विवाह करने का निश्चय किया था तथा हमारे गिर्जाघर-संघ द्वारा प्रतिवर्ष भारतीय स्त्रियों के लिए दानस्वरूप बक्से भेजे जाते थे। पर मैं यही जानती थी कि भारत एक गरम देश है जहाँ साँपों की भरमार है, जहाँ काफिर अन्धविश्वास में लकड़ी और पत्थरों को सिर नवाता है। यह आश्चर्य है कि मेरी-जैसी एक उत्सुक पाठिका उस महान् देश के इतिहास और साहित्य के बारे में इतना कम ज्ञान कैसे रखती थी। विलियम कैरी का जीवन-चरित मैंने पढ़ा था तथा गोवा के सेंट फ्रान्सिस सेवियर का नाम भी सुना था, पर ये सब पादरियों के ही दृष्टिकोण थे। आप याद रखें उस समय 'किम' का आगमन नहीं हुआ था। अतः एक सच्चे भारतीय से बातचीत करना वास्तव में एक दैवयोग ही था।

"वह दिन आया। छोटासा अतिथिघर तैयार था। एक भव्य पुरुष ने हमारे यहाँ प्रवेश किया। वे काला अल्बर्ट कोट और गहरे रंग का पैण्ट पहने हुए थे तथा उनके सुगढ़ सिर पर अनेक तहों वाली पीली पगड़ी थी। किन्तु मुखमण्डल का सौम्य भाव, आँखों की गहरी चमक तथा शक्ति की ओजस्वी छटा—यह सब तो नितान्त वर्णनातीत है। हम सब विस्मय से अभिभूत हो मौन हो गये। किन्तु हमारी गृह-स्वामिनी किसी प्रकार विचलित न हुईं और उन्होंने उत्साहपूर्वक सम्भाषण प्रारम्भ कर दिया। मैं स्वामीजी के बाजू में बैठी थी,

पर श्रद्धा के आधिक्य में एक शब्द भी मुँह से नहीं निकल पाया।

"उस दिन शाम के भाषण की कुछ भी याद नहीं है। पर जो स्मरण है, वह है—मंच पर विराजित लाल अँगरखे, नारंगी डोर तथा पीली पगड़ी से सज्जित उनका भव्य व्यक्तित्व, अंग्रेजी भाषा पर उनका अद्भुत अधिकार तथा उनका धीर-गम्भीर स्वर। किन्तु उनके विचार मेरे मन में अंकुरित नहीं हो पाये, या यह भी हो सकता है कि इस लम्बी अवधि ने उन बातों को मन से पोंछ दिया हो। पर उसके बाद जो परिसंवाद हुआ था उसकी याद अभी भी ताजी है।

"कालेज के प्रेसीडेन्ट, दर्शन विभाग के अध्यक्ष, कई प्राध्यापक, नार्दम्पटन के गिर्जाघर के कई पादरी तथा एक सुप्रसिद्ध लेखक हमारे यहाँ पर आये। घर के एक कोने में हम लड़कियाँ चुहियों की तरह शान्त बैठी थीं और उत्सुकता के साथ उनकी चर्चा सुन रही थीं। इस वार्ता का विस्तृत विवेचन करना मेरे बस के बाहर है। पर जहाँ तक मुझे स्मरण है, वह प्रमुखतः ईसाई धर्म से सम्बन्धित थी कि वही एकमात्र सही धर्म क्यों है। ऐसा नहीं था कि विषय स्वामीजी के चुनाव का हो। जब उनका प्रभावी व्यक्तित्व, काले कोटों में सजे पवित्र कहे जानेवाले लोगों का सामना कर रहा था तो ऐसा लग रहा था कि उन्हें चुनौती दी जा रही है। हमारे देश के ये विद्वान् नेता वास्तव में अनुचित लाभ उठा

रहे थे। वे अपनी बाइबिल बखूबी जानते थे तथा यूरोप के विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों, कवियों और भाष्यकारों से भलीभाँति परिचित थे। तब यह कैसे आशा की जा सकती थी कि दूरस्थ भारत का एक हिन्दू सफलतापूर्वक इन लोगों का सामना कर ले, भले ही वह अपनी विद्या में पारंगत हो। परन्तु उस चर्चा के आश्चर्यजनक परिणाम के प्रति मेरी जो प्रतिक्रिया हुई वह पूर्णतः व्यक्तिपरक तो अवश्य है, किन्तु मैं उसकी तीव्रता की अत्युक्ति नहीं कर रही हूँ।

"बाइबिल के उद्धरणों के उत्तर में स्वामीजी ने उसी पुस्तक से ऐसे बहुत से उद्धरण प्रस्तुत किये जो विपक्षियों के प्रतिकूल थे। अपने पक्ष के तर्क को पुष्ट करने के लिए उन्होंने अंग्रेज दार्शनिकों तथा धार्मिक विषय के लेखकों का उदाहरण दिया। उन्होंने वर्डस्वर्थ को और थामस ग्रे (उनकी प्रसिद्ध 'एलिजी' से नहीं) को उद्धृत किया। तब लगा कि कवियों के बारे में भी उनका ज्ञान प्रकाण्ड है। क्यों मेरी सहानुभूति मेरे अपने लोगों के प्रति नहीं हुई? क्यों मैंने उस कक्ष में प्रवाहित होती हुई आजादी की उन्मुक्त हवा में अत्यन्त उत्फुल्लता का अनुभव किया जब स्वामीजी ने धर्म के स्वरूप का दायरा विस्तृत कर उसे पूरी मानवजाति को आलिंगित करनेवाला तत्त्व निरूपित किया? क्या उनके शब्दों में मेरी अपनी आकांक्षा प्रतिध्वनित हुई थी, अथवा वह उनके व्यक्तित्व का जादू था? यह

मैं नहीं बतला सकती। बस इतना ही जानती हूँ कि मैंने उनके साथ अपने को विजयी महसूस किया।

"(बाद में) बेलुड़मठ में स्वामी...ने बातचीत करते हुए मुझे बताया कि उन्हें स्वामी विवेकानन्द प्रेम का जीवन्त विग्रह प्रतीत हुए थे। किन्तु मुझे तो उस रात वे मूर्तिमान शक्ति प्रतीत हुए। मैं सोचती हूँ कि अपनी उस समय की भावना को मैं अपने बाद के अर्जित ज्ञान से समझा सकती हूँ। इसमें संशय नहीं कि कालेज-जगत् के ये 'स्वयं पण्डितंमन्यमान' महान् व्यक्ति संकुचित मन के और संकीर्ण विचारधारा के थे। अतः वे किस तरह 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' की उदार वाणी को स्वीकार कर सकते थे? शिकागो में स्वामीजी ने हाल ही में ईसाई मिशनरियों द्वारा अपने प्रति ईर्ष्या और द्वेष का अनुभव किया था। इसलिए जब उन्होंने यहाँ भी ऐसा अनुभव किया कि पाश्चात्य विद्या के इन प्रतिनिधियों में वही भावना काम कर रही है, तो उनका स्वर कठोर हो उठा। उन लोगों को प्रेम प्रभावित करने में असमर्थ था; परन्तु शक्ति का प्रदर्शन भले ही उन लोगों को समझौते के लिये बाध्य न करे, उन्हें भयभीत तो अवश्य कर सकता था। वह चर्चा जो अत्यन्त सौहार्दपूर्ण ढंग से प्रारम्भ हुई थी, असद्भावपूर्ण होने लगी। फिर कटुता ने प्रवेश किया तथा पराभूत हो जाने की हीन भावना ने ईसाई धर्म के उन ठेकेदारों को क्रुद्ध कर दिया। और

वास्तव में वे पराजित ही हो गये। तब विजय के जिस उल्लास ने मुझे उस दिन अभिभूत कर लिया था, वह आज भी विद्यमान है।

"दूसरे दिन बड़े सबेरे स्नानघर से पानी की बौछार के साथ एक सुमधुर गम्भीर कण्ठ में अपरिचित भाषा का गान सुनायी पड़ा। मुझे ख्याल है कि हम सब झुण्ड में दरवाजे के पास उस कर्णप्रिय ध्वनि को सुनने के लिए एकत्रित हो गयीं। नाश्ते के समय हमने उस गान का अर्थ पूछा। वे बोले, 'मैं सबसे पहले अपने सिर पर और फिर वक्ष पर पानी ढालता हूँ और प्रत्येक बार समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए प्रार्थना करता हूँ।' इस कथन का मुझ पर जबरदस्त प्रभाव पड़ा। मैं प्रतिदिन प्रातः प्रार्थना करने की अभ्यस्त थी किन्तु वह प्रार्थना पहले स्वयं के लिए और फिर परिवार के लिए होती थी। यह कभी मेरे ध्यान में नहीं आया था कि सारी मानवजाति को अपने परिवार में सम्मिलित कर लूं और उन सबको अपने से पहले रखूं।

"नाश्ते के बाद स्वामीजी ने भ्रमण का प्रस्ताव रखा। हम चारों छात्राएँ, उस भव्य पुरुष के दोनों बाजुओं में दो-दो रक्षक की भाँति साथ होकर गर्व से सड़क पर निकलीं। चलते समय, शर्माते हुए हम लोगों ने बातचीत प्रारम्भ करने की कोशिश की। उन्होंने अपनी सुन्दर दन्तावलि बिखेरते हुए, मुस्काते हुए शीघ्र ही संवेदनशीलता का परिचय दिया। उनकी कही बस एक

ही बात याद है। ईसाई सिद्धान्तों के बारे में चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था कि 'ईसा के खून' का बार बार उल्लेख उन्हें बड़ा बीभत्स लगता हैं। उनकी इस बात ने मुझे सोचने के लिए विवश कर दिया। मैं हमेशा उस स्तुति से घृणा करती रही थी जो कहती है—'एक हौज है जो इमैन्युएल की नसों से खींचे गये खून से भरा है।' किन्तु चर्च के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की आलोचना करना कैसी दुस्साहसपूर्ण बात थी! मेरा 'स्वतन्त्र चिन्तन' निस्सन्देह उस मुक्ति-प्रेमी आत्मा की प्रेरणा से ही प्रारम्भ हुआ। मैंने बातचीत का प्रसंग वेदों की ओर, उन पवित्र ग्रन्थों की ओर मोड़ा जिनका उल्लेख उन्होंने अपने व्याख्यान के दौरान किया था। उन्होंने मुझे यथासम्भव मूल में उन ग्रन्थों को पढ़ने का सुझाव दिया। मैंने वहीं संस्कृत सीखने का निश्चय किया, पर दुःख है कि मैं वह इच्छा कभी पूरी न कर पायी। जहाँ तक बाह्य परिणाम का सवाल है, निस्सन्देह मेरी गाथा एक ऐसे बीज की है जिसे काँटों ने रुद्ध कर दिया हो।

"वेदों को मूल में पढ़ने के सुझाव का जो एक हास्यास्पद परिणाम सामने आया उसे मैं बिना बताये नहीं रहना चाहती। आनेवाली गरमी में पशु-धन में एक सुन्दर बछड़े की वृद्धि हुई और उसे मेरे पिता ने मुझे दे दिया। मैंने उसका नाम 'वेद' रखा। दुर्भाग्यवश वह कुछ ही महीने जिन्दा रहा। मेरे पिता ने कहा कि

उसके नाम ने ही उसे मार डाला !

"बाद के दूसरे व्याख्यान के बारे में मैं कुछ नहीं कह सकती। वे महान् स्वामीजी चले गये और मैं उन्हें पुनः कभी नहीं देख पायी। अपने देश में उनके भ्रमण के वृत्तान्त से भी मैं अपरिचित रही तथा यह भी मुझे मालूम न हो पाया कि उन्होंने दो वर्ष बाद पुनः यहाँ की यात्रा की थी। तथापि उस शक्तिपुंज के मात्र दो दिनों के सान्निध्य ने निस्सन्देह मेरे बाद के जीवन को रंग-रंजित करके रखा है... ।"

(क्रमशः)

●

यदि तुम सचमुच किसी मनुष्य के चरित्र को जाँचना चाहते हो, तो उसके बड़े कार्यों पर से उसकी जाँच मत करो। एक मूर्ख भी किसी विशेष अवसर पर बहादुर बन जाता है। मनुष्य के अत्यंत साधारण कार्यों की जाँच करो, और असल में वे ही ऐसी बातें है, जिनसे तुम्हें एक महान् पुरुष के वास्तविक चरित्र का पता लग सकता है। आकस्मिक अवसर तो छोटे से छोटे मनुष्य को भी किसी न किसी प्रकार का बडप्पन दे देते हैं। परन्तु वास्तव में बड़ा तो वही है, जिसका चरित्र सदैव और सब अवस्थाओं में महान् रहता है।

—स्वामी विवेकानन्द

भक्त रसिक

ब्रह्मचारी निर्गुण चैतन्य

कलकत्ता नगरी में भागीरथी के मनोरम तट पर स्थित सुविशाल देव मन्दिर, विहंगकूजित पंचवटी तथा सुन्दर उपवन से सुशोभित दक्षिणेश्वर का काली मन्दिर आज असंख्य प्राणियों के लिये दर्शनीय स्थान बन चुका है। यही पुण्य स्थान कभी श्रीरामकृष्ण देव का साधना-स्थल बना था। विभिन्न साधनाओं में परिपूर्ण हो जब श्रीरामकृष्ण देव में गुरुभाव जाग्रत् हुआ तो जैसे कमल के खिलने पर मधुमक्खियाँ स्वयं ही उसके पास मधु लेने के लिये आ जाती हैं, उसी प्रकार साधकगण भी श्रीरामकृष्ण देव के चरणों में एकत्रित होने लगे। सभी जाति, वर्ण और आयु के स्वदेशी, विदेशी, स्वधर्मी और परधर्मी लोगों पर उनकी समान कृपा हुई।

काली मन्दिर से लगभग एक फर्लांग दूर एक परम भक्त रहा करता था। उसका नाम था रसिकलाल। रसिक जाति का मेहतर था। दक्षिणेश्वर मन्दिर में झाड़ू-बहारी करके अपना गुजारा चलाता था। भक्तों की कोई जाति नहीं होती। इससे पूर्व भी इस जाति ने रैदास, रविदास, कबीर जैसे भक्तों को जन्म दिया था। ऐसी कहावत प्रसिद्ध भी है——

जाति पाँति पूछै नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥

सो रसिक मेहतर भी सरल, पवित्रहृदय और प्रेमी भक्त था। चाकरी अवश्य करता था परन्तु कार्य को निष्ठा और प्रेम से करता था। मानो उसका विश्वास था कि कार्य प्रभु का है, समय प्रभु का है। इसीलिये उसके लिये धन्धा, धन्धा न रहा बल्कि साधना में बदल गया। धन्धा करके जब घर लौटता तो समय इधर-उधर न गँवाकर प्रभु-चिन्तन में ही व्यतीत करता।

श्रीरामकृष्ण के प्रति उसका अटूट प्रेम था। वह उन्हें सन्त मानता था या गुरु या कोई देवता अथवा साक्षात् नारायण यह तो वही जाने परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीरामकृष्ण को देखकर वह आनन्द से भर जाता, उसका शरीर रोमांचित हो उठता, हाथ जोड़कर वह उन्हें निहारता रहता तथा प्रेमाश्रु कपोलों पर ढलकते रहते। जब श्रीरामकृष्ण शौचादि से निवृत्त होने के लिये झाऊतला की ओर जाते तो रसिक उनके पदचिह्नों से धूलि उठाकर मस्तक पर रखता हुआ प्रेमानन्द में विभोर हो जाता।

एक दिन जब इसी प्रकार श्रीरामकृष्ण देव झाऊ-तला की ओर जा रहे थे तो उन्होंने पीछे मुड़कर देखा——रसिक उनके पदचिह्नों पर अपना मस्तक रखे हुए है। फिर उसने वहाँ से धूल लेकर अपने माथे पर लगायी और प्रेम-भक्ति से पूर्ण, रोमांचित देह तथा सजल नेत्रों से श्रीरामकृष्ण की ओर देखा। आज रसिक पकड़ा गया। रोज तो चोरी चोरी करता था परन्तु

आज तो प्रभु ने देख ही लिया। श्रीरामकृष्ण का हृदय करुणा से भर उठा। उनकी मनोहर दिव्य कृपादृष्टि जब रसिक पर पड़ी तो मानो जन्म-जन्मान्तर का मल कट गया और उसे अपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ। कण्ठ भर आया, मुख से स्वर भी न निकल रहा था। वह प्रभु के भवताप हरण करनेवाले युगलचरणों से लिपट गया। अश्रुप्रवाह से प्रभु के चरण धुल गये। प्रभु के श्रीचरण ही भक्तों की परम सम्पदा हैं, जिसके कारण संसार-समुद्र गोष्पद-तुल्य हो जाता है। आज रसिक खाली हाथ नहीं लौटेगा, आज तो मौका मिला था। गद्गद् कण्ठ से उसने कहा, "ठाकुर! क्या मैं खाली हाथ लौट जाऊँ? क्या मेरा कुछ भी न होगा? क्या मेरा जन्म व्यर्थ ही जायेगा?" और वह उनके चरणों से पुनः लिपटकर रोने लगा। श्रीरामकृष्ण देव ने उसे उठाकर हृदय से लगा लिया और कहा, "नहीं नहीं, खाली क्यों लौटोगे, रसिक! तुमने यहाँ आनेवाले इतने भक्तों की जो सेवा की है वह क्या कभी निरर्थक हो सकती है? कदापि नहीं! तुम अवश्य ही परमलाभ के अधिकारी होगे।" इस आशीर्वाणी को सुन रसिक आनन्द से झूमता हुआ ठाकुर का जय-जयकार करने लगा। पुनः ठाकुर को प्रणाम कर वह अपने कार्य में लग गया।

इसी प्रकार वह यदा-कदा श्रीरामकृष्ण देव की कृपा प्राप्त करता रहा। उसकी भक्ति भी दिनोंदिन बढ़ती

गयी। तुलसीदासजी ने लिखा है—

भगति तात अनुपम सुख मूला।
मिलइ जो सन्त होइ अनुकूला॥

श्रीरामकृष्ण देव ने १६ अगस्त १८८६ ई. को काशीपुर उद्यानवाटी में महासमाधि ले ली। समाचार सुनकर रसिक को बहुत धक्का लगा। वह भजन-चिन्तन में और भी तल्लीन हो गया। उसकी व्याकुलता बढ़ती गयी। "काह करूँ कित जाऊँ श्याम बिन।" विरहाग्नि बढ़ती गयी। अब तो एक ही बात रसिक को सूझती थी, "किस विधि मिलना होय।" रसिक का स्वास्थ्य गिरने लगा और धीरे धीरे उसने खाट पकड़ ली। अब तो वह मन्दिर की सफाई के लिये भी न जा सकता था। उसकी कन्या मन्दिर की सफाई कर आती थी। रसिक को उसमें ही सन्तोष करना पड़ा।

अन्त में वह दिन भी आया जब रसिक संसार के सारे बन्धन तोड़ अपने प्रभु में विलीन होने के लिए छटपटाने लगा। अन्तिम समय उपस्थित हो गया परन्तु प्रभु के दर्शन न हुए। विरह-व्यथा ने विकट रूप धारण कर लिया। रसिक को पूर्ण विश्वास था कि श्रीरामकृष्ण देव की आशीर्वाणी निष्फल न होगी। उसने अपने सम्बन्धियों को पास बुला लिया और कहा, "तुम लोग शीघ्र ही अपना खाना-पीना समाप्त करलो परन्तु जब तक मैं न बुलाऊँ मेरे पास न आना।" सभी ने तदनुसार किया। रसिक तुलसी के पौधे के पास भगवान्

श्रीरामकृष्ण का नाम जपते जपते उनके चिन्तन में डूब गया। देह की सुध न रही। मन तो 'रामकृष्ण'-सुधा का पान करते करते बेसुध हो गया था। एक ही सुध थी तो वह यही कि प्रभु में कैसे विलीन हो जायें। श्रीरामकृष्ण भले ही स्थूल देह छोड़ चुके थे परन्तु क्या भक्त की पुकार और विकल प्रार्थना निष्फल होती? कदापि नहीं! "न मे भक्तः प्रणश्यति" ऐसी प्रतिज्ञा जो उन्होंने की है! तुरन्त प्रभु प्रकट हो गये। ज्योतिर्मय दिव्य अलौकिक रूप देख रसिक पुकार उठा, "प्रभो, तुम आ गये, तुम आ गये, तुम आ गये, तुमने मुझे बिसराया नहीं... प्रभो! प्रभो!" और देखते ही देखते प्रभु श्रीरामकृष्ण देव ने रसिक को ज्योति रूप से अपने में समा लिया। भक्त भगवान् में लीन हो गया, परन्तु उसकी स्मृति आज भी भक्तों को उत्साहित करती है।

●

शिकायतों और झगड़ों से क्या लाभ? उससे हम कुछ अधिक अच्छे तो बन नही जायेंगे। जो अपने भाग्य में पड़ी हुई सामान्य वस्तु के लिए भी बडबडाते रहने से उसका जीवन दुःखमय हो जायगा और सर्वत्र असफलता ही उसके हाथ लगेगी। परन्तु जो मनुष्य अपने कर्तव्य को पूर्ण शक्ति से करता रहता है, वह ज्ञान एवं प्रकाश का भागी होगा और उसे अधिकाधिक उँचे कार्य करने के अवसर प्राप्त होंगे।

—स्वामी विवेकानन्द

प्रश्न--आज की विषम परिस्थिति में भारतीय नारी का क्या स्वरूप और उत्तरदायित्व होना चाहिए ?

-कु. माधुरीलता अग्रवाल, बलोदा (अकलतरा)

उत्तर--विश्व में सामान्य दृष्टि में जड़ और चेतन ऐसी दो श्रेणियाँ दिखाई पड़ती हैं। जिस समय समाज के अधिकांश लोग जड़ में ही अपनी आस्था केन्द्रित कर, उसी को सर्वस्व समझने लगते हैं तो उनके लिए शरीर ही पूजनीय हो जाता है। ऐसी अवस्था विषम परिस्थिति को जन्म देती है। आज लोग शरीर-प्रधान हो गये हैं और चैतन्य के अस्तित्व को देखते हुए भी भुला बैठे हैं। इसीलिए मनुष्य स्वार्थी और लोभी हो गया है तथा इन्द्रिय-सन्तुष्टि को ही सब कुछ समझ बैठा है।

जैसे पुरुष आज के वातावरण का शिकार हुआ है, उसी प्रकार नारी भी इस हवा से अछूती नहीं है। बल्कि कई क्षेत्रों में यह देखा गया है कि स्वतंत्रता और पुरुष से समानता के नाम पर नारी कुछ अधिक ही स्वच्छन्द हो गयी है। और इसके परिणाम भी स्पष्ट हैं। अमेरिका और यूरोप के विभिन्न देशों में 'परिवार' नामक संस्था के टूटने का एकमात्र कारण यही है। धीरे धीरे अपने देश में भी यह दूषित हवा प्रवेश करती जा रही है और प्रभावित परिवारों को तोडती जा रही है।

भारत में नारी सदा से पूजनीया रही है। जबकि उसके रमणी-रूप के उपासक भारतेतर देश रहे हैं, भारत ने उसके जननी-रूप को ही गौरव प्रदान किया है और माता को परिवार के शीर्षस्थान पर बिठाया है। भारत की आध्यात्मिकता ही इसका कारण रही है। अन्य देशों की संस्कृति नारी को भोग्या समझती है, जबकि भारत को शिक्षा मिली है कि वह नारी के मातृत्व को सम्मानित करे। आज पश्चिमी हवा के झोंके में हमारे ये सनातन आदर्श उड़कर बिखरते जा रहे हैं। तथापि आज भी भारत की नारी में तेजस्विता है, उसमें ललक है और ऐसी चिनगारी है जो समय पाकर दावानल के रूप में भभक जाये। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि भारत की नारी अपने देश की सनातन संस्कृति से परिचित हो जाती है और देश को उठाने का निश्चय कर लेती है, तो देश पुनः एक बार गौरव के शिखर पर पहुँच जायगा। भारत की नारी अपने पति के लिए हाड़ा बने, सावित्री बने और अपने पुत्रों के लिए मदालसा बने, सुमित्रा बने। वह आधुनिक शिक्षा में शिक्षित तो हो, पर आधुनिका न बनकर भारत के नारी-आदर्श की जीती-जागती प्रतिमा बने। वर्तमान युग में श्रीमाँ सारदा और भगिनी निवेदिता एक ऐसा युगल जीवन है जो हमारे मन में उठनेवाली शंकाओं का समाधान कर देता है। यह युगल जीवन पूर्व और पश्चिम का मिलन है। यह मिलन भारत के कल्याण के लिए हुआ है और भारतीय नारी के समक्ष एक अपूर्व आदर्श रखता है। इस मिलन में ही भारतीय नारी का वांछित स्वरूप निहित है। उसका उत्तरदायित्व भी इस युग्म-जीवन के मिलन में मुखर हो उठा है।

●

आश्रम समाचार

(१ मार्च से ३१ मई तक)

१. विवेकानन्द धर्मार्थ औषधालय

एलोपैथी विभाग— उपर्युक्त ३ माह की अवधि में कुल १०७१५ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी जिनमें ३१८० रोगी नये थे। इनमें क्रानिक उदर-रोगियों की संख्या ६८ थी। ६२६ इंजेक्शन लगाये गये। ७८ दन्त-रोगियों में से ३५ लोगों के दाँत निकाले गये। सर्जिकल केस—३१। माइनर सर्जिकल आपरेशन—१४। आँखों के रोगी—१०६। स्त्री-रोग से रुग्ण—१२६।

होमियोपैथी विभाग— इस विभाग द्वारा ३४९२ रोगियों का निःशुल्क उपचार किया गया जिनमें ७०३ रोगी नये थे।

२. विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थालय और निःशुल्क वाचनालय

उक्त अवधि में ग्रन्थालय में १८३४ पुस्तकों की वृद्धि हुई। ३१ मई को कुल पुस्तकों की संख्या १४९३१ थी। इस बीच ३९९१ पुस्तकें निर्गमित की गयीं। वाचनालय में पत्र-पत्रिकाओं की संख्या में भी वृद्धि हुई और मई के अन्त में ९७ पत्र-पत्रिकाएँ तथा दैनिक समाचार-पत्र पाठकों को उपलब्ध हुए। इस अवधि में लगभग १०४०० पाठकों ने वाचनालय का उपयोग किया।

३. विवेकानन्द विद्यार्थी भवन

उक्त अवधि में विद्यार्थी परीक्षाओं में व्यस्त रहे, अतएव इस बीच अध्ययन वर्ग के द्वारा कोई कार्यक्रम आयोजित नहीं किया जा सका।

४. धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम

साप्ताहिक सत्संग— रविवासरीय गीता-प्रवचनमाला के अन्तर्गत स्वामी आत्मानन्द ने १, ८, २९ मार्च तथा ५ और २६ अप्रैल को गीता पर प्रवचन दिये। अब तक कुल ८१ प्रवचन गीता पर दिये जा चुके हैं और तीसरा अध्याय समाप्त हुआ है। २६ अप्रैल को सत्र का अन्तिम रविवार था। उसके बाद सत्संग के कार्यक्रम गर्मी के दो महीनों के लिए बन्द कर दिये गये। अगला सत्र रविवार, ५ जुलाई से प्रारम्भ होगा, जब स्वामीजी गीता पर ८२ वाँ प्रवचन देंगे।

इस अवधि में श्री सन्तोषकुमार झा ने ७ और २८ मार्च को 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' पर १५ वाँ और १६ वाँ प्रवचन दिया।

प्राध्यापक देवेन्द्रकुमार वर्मा ने १४ मार्च और ४ अप्रैल को 'हिन्दू धर्म' पर २० वाँ और २१ वाँ व्याख्यान दिया।

१५ मार्च और १२ अप्रैल को श्री प्रेमचन्द जैन की सरस रामायण-कथा हुई।

२१ मार्च और १९ अप्रैल को डा. अशोक कुमार बोरदिया ने 'पातंजल-योगसूत्र' पर २८ वाँ और २९ वाँ प्रवचन दिया।

स्वामी आत्मानन्द के अन्यत्र कार्यक्रम— १ मार्च को भिलाई-स्थित श्रीरामकृष्ण सेवा मण्डल के तत्त्वावधान में गीता-प्रवचन। २ मार्च को अपराह्न में अकलतरा के को-आपरेटिव बैंक के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को सम्बोधित। उसी रात्रि अकलतरा में चतुर्दिवसीय गीता-ज्ञानयज्ञ के अन्तर्गत गीता के १२ वें अध्याय 'भक्तियोग' पर चर्चा प्रारम्भ की। २, ३, ४ और ५ मार्च इन ४ दिनों में स्वामीजी ने १२ वें अध्याय पर विस्तृत, गम्भीर और रसपूर्ण प्रवचन किया। ३ मार्च की सुबह पामगढ़

में 'जीवन का परम लक्ष्य' इस विषय पर सार्वजनिक सभा को सम्बोधित किया। उसी अपराह्न कोसा ग्राम में विद्युत्-प्रवाह का उद्घाटन किया तथा सुदूर ग्रामों से एकत्रित भक्त-समुदाय के समक्ष 'भक्तियोग' विषय पर व्याख्यान दिया। ४ मार्च को अपराह्न में फरहदा ग्राम में आयोजित सार्वजनिक सभा को 'धर्म' विषय पर सम्बोधित किया। ५ मार्च को सुबह बलौदा ग्राम में 'गृहस्थ का समाज के प्रति कर्तव्य' इस विषय पर प्रवचन।

७ मार्च की सुबह बुड़ला मेडिकल कालेज (उड़ीसा) की अध्यात्म ससद में प्रार्थना-सभा को सम्बोधित। ९ बजे वहीं के वार्षिकोत्सव में मुख्य अतिथि के रूप से 'मानव जीवन का प्रयोजन' इस विषय पर विचारोत्तेजक व्याख्यान। उसी अपराह्न विशिष्ट भक्तों के बीच 'श्रीरामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ' विषय पर चर्चा। उसी रात्रि सम्बलपुर स्थित विधि महाविद्यालय के अध्यापकों और छात्रों के सम्मुख Search for Peace विषय पर अंग्रेजी में व्याख्यान।

१३ और १४ मार्च को कानपुर-स्थित रामकृष्ण मिशन आश्रम के तत्त्वावधान में 'विवेकानन्द एन्डाउमेन्ट लेक्चर्स' के रूप में स्वामीजी ने 'नरेन्द्र से स्वामी विवेकानन्द' विषय पर दो व्याख्यान दिये। १५ मार्च को उक्त आश्रम द्वारा आयोजित भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के जन्मोत्सव-समारोह में मुख्य अतिथि के रूप से भाग लेते हुए 'समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण' पर व्याख्यान दिया। समारोह की अध्यक्षता कानपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री राधाकृष्ण ने की। १५ मार्च की ही सुबह स्थानीय रामायण-वेदान्त सभा के तत्त्वावधान में 'सत्संग का महत्त्व' इस विषय पर व्याख्यान दिया।

८, ९, १० और ११ अप्रैल को स्वामीजी मुंगेर में थे। वहाँ उन्होंने 'युग की माँग,' 'शान्ति का उपाय,' 'कर्मयोग,' 'नारी का

कर्तव्य तथा 'शरणागति रहस्य' ऐसे ५ व्याख्यान दिये। १५ अप्रैल को इलाहाबाद स्थित रामकृष्ण मठ में रामनवमी के उपलक्ष में आयोजित उत्सव-समारोह में वे 'तुलसी के राम' विषय पर बोले।

१९ अप्रैल को ग्वालियर स्थित श्रीरामकृष्ण आश्रम में, रामकृष्ण मठ और मिशन के अध्यक्ष पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज के सभापतित्व में आयोजित समारोह में 'श्रीरामकृष्ण' पर व्याख्यान। २१ अप्रैल को ग्वालियर के मिलिटरी कैन्टानमेंट में 'गीता की नीति' पर भाषण।

२ मई को मंडला के गीता स्वाध्याय मंडल के तत्त्वावधान में 'गीता का जीवन में प्रयोजन' विषय पर प्रवचन। ३ मई को जबलपुर के श्रीरामकृष्ण आश्रम द्वारा न्यायमूर्ति श्री कन्हैयालाल पाण्डे की अध्यक्षता में आयोजित सभा में 'श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव का महत्त्व' विषय पर व्याख्यान। ८ मई को अहमदाबाद में गुजरात राज्य द्वारा आयोजित परिवार-नियोजन-सेमीनार के अधिकारियों एवं प्रशिक्षणार्थियों के सम्मुख 'परिवार नियोजन और धार्मिक दृष्टिकोण' इस विषय पर सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया। ९ मई को गुजरात के आनन्द नामक शहर में 'आनन्द वाणिज्य महाविद्यालय' के भवन-निर्माण हेतु भूमि-पूजन किया और समवेत गण्यमान्य जनों को 'शिक्षा का प्रयोजन' इस विषय पर सम्बोधित किया।

१८ मई को अजमेर में मानव सेवा संघ और श्रीरामकृष्ण आश्रम के सम्मिलित तत्त्वावधान में आयोजित सभा में 'धर्म का प्रयोजन' विषय पर भाषण। १९ मई को जयपुर के इंडियन मेडिकल असोसियेशन द्वारा आयोजित डाक्टरों और चिकित्सकों की सभा को Science & Religion विषय पर अंग्रेजी में सम्बोधित किया।

२४ मई को कनखल (हरिद्वार) स्थित रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम के वार्षिकोत्सव में भाग लेते हुए स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण, श्री माँ सारदा एवं स्वामी विवेकानन्द के जीवन एवं सन्देश पर सारगर्भित व्याख्यान दिया।

श्रीरामकृष्ण जयन्ती महोत्सव

९ मार्च को भगवान् श्रीरामकृष्ण देव की १३५ वीं जयन्ती आश्रम में सोत्साह मनायी गयी। इस उपलक्ष में विशेष पूजा-भजन आदि का आयोजन था। ब्राह्ममुहूर्त में मंगल आरती के पश्चात् सामूहिक प्रार्थना और ध्यान के कार्यक्रम थे। तदनन्तर भजन-गीत आयोजित था। मध्याह्न में फिर से आरती और प्रार्थना के उपरान्त प्रसाद-वितरण सम्पन्न हुआ। सन्ध्या में आरती और प्रार्थना के पश्चात् एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया था, जिसकी अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की। इस अवसर पर श्री संतोषकुमार झा, डा. नरेन्द्र देव वर्मा और प्राध्यापिका निवेदिता गुप्ता ने क्रमशः 'श्रीरामकृष्ण और भारतीय नवजागरण,' 'समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण' तथा 'श्रीरामकृष्ण और नारी जाति' पर उपस्थित जनों को सम्बोधित किया।

२६ मार्च को भिलाई स्थित श्रीरामकृष्ण सेवा मंडल के तत्त्वावधान में, भगवान् श्रीरामकृष्ण देव की जयन्ती के उपलक्ष में, एक सार्वजनिक सभा आयोजित की गयी। समारोह की अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की। अन्य वक्ता थे--श्री सन्तोषकुमार झा, प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा तथा प्राध्यापिका निवेदिता गुप्ता। वक्ताओं ने श्रीरामकृष्ण देव के लीलामय जीवन के भिन्न भिन्न पहलुओं पर चर्चाएँ कीं।

●

रामकृष्ण मिशन समाचार

(इस स्तम्भ के अन्तर्गत रामकृष्ण मठ और मिशन के विभिन्न केन्द्रों के संक्षिप्त प्रतिवेदन और सामयिक समाचार प्रकाशित किये जायेंगे।)

रामकृष्ण मिशन सारदापीठ, बेलुड़मठ
(अप्रैल १९६८ से मार्च १९६९ की रिपोर्ट)

रामकृष्ण संघ की यह शाखा बेलुड़मठ के सन्निकट सन् १९४१ में प्रारम्भ की गयी। शिक्षा के क्षेत्र में इस केन्द्र द्वारा प्रशंसनीय कार्य हुए हैं। वर्तमान में इसकी गतिविधियाँ निम्नलिखित हैं:—

विद्यामन्दिर——यह एक महाविद्यालय है जहाँ त्रिवर्षीय उपाधि पाठ्यक्रम चलता है। यह कलकत्ता विश्वविद्यालय से सम्बद्ध है तथा गुरुकुल पद्धति से संचालित होता है। आलोच्य वर्ष में २१६ विद्यार्थियों को प्रवेश दिया गया। यहाँ विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास के प्रयत्न किये जाते हैं। उनके लिए महाविद्यालयीन पाठ्यक्रम के अतिरिक्त धार्मिक कक्षाएँ, खेल, एन. सी. सी. प्रशिक्षण तथा अन्य विभिन्न कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। विद्यार्थियों के लिए निःशुल्क चिकित्सा की व्यवस्था है। निर्धन और जरूरतमन्द विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता भी प्रदान की जाती है।

शिक्षण-मन्दिर——यह स्नातकोत्तर शिक्षण महाविद्यालय है। यह महाविद्यालय भी गुरुकुल पद्धति से संचालित होता है, यानी यह भी रेसिडेंशियल है। इस वर्ष १३४ शिक्षक-विद्यार्थियों को प्रवेश दिया गया। पिछले वर्ष बी. टी. की परीक्षा में बैठनेवाले १३१ विद्यार्थियों में १२७ विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए। विद्यार्थियों ने 'सन्दीपन' नामक नियतकालिक तथा 'संस्कृत का अध्यापन' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित किया।

शिल्प-मन्दिर--यह एक पालिटेकनिक है जहाँ सिविल, मेकैनिकल एवं इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग का त्रिवर्षीय डिप्लोमा कोर्स पढ़ाया जाता है। आलोच्य वर्ष में यहाँ ४३९ विद्यार्थी थे। इसी के साथ युक्त छात्रावास में ९० विद्यार्थियों को प्रवेश दिया गया। यहाँ भी एन. सी. सी. प्रशिक्षण की व्यवस्था है।

शिल्पायतन--१४ वर्ष और उससे अधिक उम्र के निर्धन बालकों को निःशुल्क शिक्षा देने के लिए यह जूनियर टेकनिकल स्कूल चलाया जा रहा है। यहाँ के ३ वर्ष के पाठ्यक्रम में १३४ विद्यार्थियों को इस वर्ष प्रवेश दिया गया। यहाँ पर विद्यार्थियों को सामान्य ज्ञान और इंजीनियरिंग के विषयों की शिक्षा दी जाती है।

शिल्पविद्यालय--यहाँ जरूरतमन्द बुद्धिमान् छात्रों को बिजली का काम, मोटर का तंत्र, इंजीनियरिंग के अन्य विविध काम, बढ़ईगिरी, बुनाई और सिलाई के काम निःशुल्क एक से तीन वर्ष तक सिखाये जाते हैं। इस वर्ष यहाँ ६२ विद्यार्थियों को प्रवेश दिया गया।

जनशिक्षा-मन्दिर--जनसाधारण में शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार करने के उद्देश्य से इस विभाग को प्रारम्भ किया गया। आलोच्य वर्ष में इस विभाग द्वारा प्रौढ़-शिक्षा हेतु ९ रात्रि-शालाएँ संचालित की गयीं। आसपास के गाँवों में ८८ डाक्यूमेंटरी फिल्म दिखाये गये। यहाँ के ग्रन्थालय में १६०७३ पुस्तकें थीं। ग्रन्थालय का एक चल-विभाग भी है जिसके अन्तर्गत मोबाइल वान और सायकिल आदि की सहायता से पुस्तकों को घर घर पहुँचाया जाता है। उक्त अवधि में निर्गमित पुस्तकों की संख्या १८३२६ थी। जनशिक्षा-मन्दिर की ओर से तरुणों के लिए कई सांस्कृतिक कार्यक्रम और खेल-प्रतियोगिताएँ भी

आयोजित की गयीं। प्रतिदिन लगभग २०० छोटे बच्चों के स्वास्थ्यवर्धक नाश्ता दिया गया तथा ४६ केन्द्रों के माध्यम से प्रतिदिन ८००० बच्चों और माताओं को दूध बाँटा गया।

तत्त्वमन्दिर—इस विभाग के द्वारा प्रस्तुत केन्द्र में कार्य करनेवाले संन्यासियों एवं ब्रह्मचारियों के लिए शास्त्र-अध्ययन हेतु नियमित कक्षाएँ चलायी जाती हैं। सर्वसाधारण के लिए प्रति सप्ताह धार्मिक विषयों पर प्रवचन दिये जाते हैं। इस विभाग का एक अपना ग्रन्थालय है जिसमें संस्कृत भाषा और दर्शन की पुस्तकें उल्लेखनीय हैं।

यंत्रनिर्माण-फोटो-पुस्तक प्रकाशन विभाग—इस विभाग के द्वारा कुछ छोटे छोटे यंत्र बिक्री के लिए तैयार किये जाते हैं। श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-साहित्य पर पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं और फोटो बनाये जाते हैं। तस्वीर के भिन्न भिन्न फ्रेम भी इस विभाग द्वारा निर्मित होते हैं। उपर्युक्त साहित्य की पुस्तकें सभी भाषाओं में बिक्री के लिए यहाँ उपलब्ध रहती हैं।

विवेक-ज्योति के ग्राहकों को विशेष सूचना

हमें यह सूचित करते हुए प्रसन्नता हो रही है कि विवेक-ज्योति के ग्राहकों को रामकृष्ण मिशन के अधिकांश प्रकाशनों में विशेष छूट मिलेगी। आजीवन सदस्यों को इन पुस्तकों की खरीदी में १० प्रतिशत एवं वार्षिक सदस्यों को ५ प्रतिशत की छूट दी जायेगी। इन पुस्तकों को मँगाते समय अपनी सदस्यता क्रमांक अवश्य लिखें।

व्यवस्थापक,

'विवेक-ज्योति'